Chapter. 1

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

: प्रथम अध्याय :

:: विषय-प्रवेश ::

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

: प्रथम अध्याय :

:: विषय-प्रवेश ::

प्रास्ताविक :

उपन्यास की गणना कथा-साहित्य (Fiction) के अंतर्गत होती है। कथा तो प्रबंध काव्य के सभी रूपों में – खण्डकाव्य, महाकाव्य, चरित काव्य और एकार्थ काव्य – में उपलब्ध होती रही है। नाट्य-साहित्य में भी कथा होती है। किन्तु आज जब हम कथा-साहित्य की चर्चा करते हैं, तो हमारे सामने दो ही विधाएं आती हैं – उपन्यास और कहानी। ये दोनों गद्य की विधाएं हैं। अतः गद्य के विकास के साथ इनका विकास हुआ है। यद्यपि हिन्दी गद्य का प्रादुर्भाव तो आदिकाल से हो गया था और रोड़ा कृत 'राउलवेल', दामोदर मिश्र कृत 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' तथा ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्ण-रत्नाकर' जैसी गद्य रचानाएं हमें आदिकाल में प्राप्त होती हैं। 'राउलवेल' गद्य और पद्य का मिश्रण है, अतः उसे हम चम्पू काव्य कह सकते हैं। आदिकाल के पश्चात् मध्यकाल में ब्रजभाषा में 'चौर्यासी वैष्वव की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' प्रभृति ब्रजभाषा गद्य की रचनाएं मिलती हैं, किन्तु ये रचनाएं परिमाण में बहुत कम, उँगली पर गिने जाने योग्य, रूप में मिलती है। दूसरे गद्य का अक्षुण्ण प्रवाह दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक-व्यवहार में तो गद्य होगा, किन्तु काव्य-लेखन में उसका अभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। गद्य का अक्षुण्ण प्रवाह हमें आधुनिक काल में प्राप्त होता है, कदाचित् इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में आधुनिक काल को 'गद्यकाल' के रूप में शीर्षस्थ किया है। ध्यान रहे यह तथ्य हिन्दी साहित्य के संदर्भ में सत्य है, किन्तु जहां तक संस्कृत साहित्य का सम्बन्ध है, वहां उच्च प्रकार का संपन्न और स्तरीय

गद्य प्राप्त होता है जो विचार-विमर्श, विश्लेषण, तर्क इत्यादि के लिए उपयुक्त समझा जाता है। किन्तु कथा-साहित्य की उपर्युक्त दो विधाओं में से केवल एक विधा ही वहां प्राप्त होती है जिसे हम कथा या वार्ता कह सकते हैं। हितोपदेश, पंचतंत्र, कथा-सरितसागर आदि कथा-साहित्य की बड़ी ही समृद्ध और संपन्न परंपरा हमें संस्कृत में प्राप्त होती है। किन्तु आजकल जिसे उपन्यास कहा जाता है, ठीक ऐसी रचना तो संस्कृत में भी उपलब्ध नहीं होती है। कुछ विद्वान 'दशकुमार चरितम्' तथा 'कादम्बरी' को उपन्यास की संज्ञा देते हैं,[1] किन्तु वस्तु, शिल्प आदि की दृष्टि से ये रचनाएं संख्या में बहुत कम हैं और उनमें पारंपरिक सातत्य का अभाव दृष्टिगोचर होता है। पाश्चात्य देशों में जब 'नोवेल' जैसी विधा का अविर्भाव होता है तो वहां उस प्रकार की रचानाओं का एक अक्षुण्य प्रवाह शुरू हो जाता है। हिन्दी में भी पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत 'भाग्यवती' (सन् 1878 ई.) या लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' जैसे उपन्यास प्राप्त होने के बाद उनकी एक नियमित सातत्यपूर्ण क्रमिक परंपरा हमें उपलब्ध होती है। अतः पाश्चात्य 'नोवेल' से भारतीय भाषाओं में इस विधा का आविर्भाव हुआ होगा यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा। हमारे यहां उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से अंग्रेजी शिक्षा का आरंभ हुआ और हमारे लेखक अंग्रेजी साहित्य के 'नोवेल' नामक साहित्य-प्रकार से परिचित हुए और इसीलिए लगभग सभी भारतीय भाषाओं में इस विधा का प्रारंभ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से उपलब्ध होता है। टेकचन्द ठाकुर कृत बांगला भाषा का प्रथम उपन्यास 'आलालेर घरेर दुलाल' (सन् 1857 ई.) में प्राप्त होता है। उसके कुछ समय बाद सन् 1857 में ही मराठी उपन्यास 'यमुना पर्यटन' प्राप्त होता है। उसके लेखक थे बाबा पदमनजी। गुजराती का प्रथम उपन्यास 'करणघेलो' सन् 1866 में हमारे सामने आता है। उसके लेखक है नंदशंकर तुलजाशंकर मेहता। कुछ विद्वानों के मतानुसार पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत 'भाग्यवती' हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, तो कुछ के अनुसार लाला श्रीनिवासदास कृत 'परिक्षागुरु' जिनका रचना काल क्रमशः 1878 और 1882 ई. है। अतः रचनाकाल की दृष्टि से 'भाग्यवती' ही हिन्दी का प्रथम उपन्यास ठहरता है। एक दूसरी दृष्टि

से भी इस उपन्यास का महत्व है। जहां तक विचारधारा का सम्बन्ध है, आधुनिक काल के प्रमुख दो विमर्श माने गए हैं – नारी विमर्श और दलित विमर्श। 'भाग्यवती' का सम्बन्ध नारी-विमर्श से है, क्योंकि यह पहला उपन्यास है जिसमें नारी-शिक्षा के महत्व को प्रतिपादित किया गया है, इतना ही नहीं उपन्यास भी नायिका-प्रधान है।

पाश्चात्य देशों में भी उपन्यास अधिक प्राचीन नहीं है। वहां भी वह पन्द्रहवी-सोलहवीं शताब्दी के उपरांत उत्क्रान्ति (Renaissance) के बाद आविर्भूत हुआ है। इसीलिए तो उसे 'Novel' कहा गया है। 'नोवेल' का अर्थ नया या नवीन होता है। अभिप्राय यह कि वहां भी यह विधा एक नयी विधा के रूप में सामने आयी है। अतः बहुत संभव है कि 'नवजागरण काल', जिसे बहुत-से इतिहासकार 'इण्डियन रेनेसां' कहते हैं, के पश्चात् लगभग उसी प्रकार की परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर यह विधा भारतीय भाषाओं में उतर आयी हो। अनेक भारतीय भाषाओं में तो उसका नामकरण भी प्रायः अंग्रेजी शब्द 'नोवेल' को केन्द्र में रखकर ही हुआ है, जैसे – नावल (पंजाबी), नाविल (उर्दू), नावल (कश्मीरी), नावलु (सिन्धी), नवलकथा (गुजराती), नवलकथा (मराठी), नवल (तेलूगु), नोवल (मलयालम) आदि-आदि।[2] 'नोवेल' के बाद इस विधा के लिए 'उपन्यास' या उससे – मिलते-जुलते शब्द उपलब्ध होते हैं, जैसे – उपनिआस (पंजाबी), उपन्यासु (सिन्धी), उपन्यास (बँगला), उपन्यास (असमिया), उपन्यास (उड़िया), उपन्यास (हिन्दी) आदि-आदि।[3]

अतः प्रश्न उठता है कि इस नयी पाश्चात्य विधा के लिए 'उपन्यास' शब्द किस प्रकार प्रयुक्त हुआ होगा? ऊपर भलीभांति निर्दिष्ट किया गया है कि कथा साहित्य का यह प्रकार अँग्रेज़ी के 'नोवेल' से भारतीय भाषाओं में आया है और अधिकांश भाषाओं में उसका नामकरण भी उससे मिलते-जुलते नामों से हुआ है। तब फिर यह शब्द – 'उपन्यास' – कहां से आया? हमारे यहां 'उपन्यास' शब्द नाट्यशास्त्र में मिलता है। नाट्यशास्त्र में संधि-प्रकरण के अंतर्गत 'प्रतिमुख' संधि के एक उपभेद के रूप में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहां उसकी व्याख्या दो तरह से की गई है – (1) उपन्यासः

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY

प्रसादनम् – अर्थात् उपन्यास से लोगों का मनोरंजन होता है और (2) उपपत्तिकृतोह्यर्थः उपन्यासः -- अर्थात् जहां किसी [illegible] को युक्तिपूर्वक कहा जाता है, वहां उसे 'उपन्यास' कहते है।[4]

अभिप्राय यह कि 'उपन्यास' शब्द नाटक की प्रतिमुख संधि का एक उपभेद है। अर्थात् नाटक में जहां कोई ऐसा अंश आता था जिससे दर्शकों या भावकों का मनोरंजन होता था और जहां सीधे प्रत्यक्ष ढंग से न कहकर चातुर्यपूर्ण ढंग से वाक्-विद्गधता के साथ कहा जाता था, वहां 'उपन्यास' की स्थिति निर्मित होती थी जो 'प्रतिमुख' संधि का एक उपभेद था। अंग्रेजी के द्वारा यह जो नया साहित्य-प्रकार हमारे यहां आया, उसमें ये दोनों खूबिया मिलती हैं। उपन्यास से पाठक का मनोरंजन होता है यह बात तो अत्यन्त सुस्पष्ट है। स्कूल-कालेजों के छात्रोपयोगी पुस्तकालयों को छोड़कर यदि सामान्य पुस्तकालयों का सर्वेक्षण कराया जाए तो यह तथ्य सामने आयेगा कि लोग जिन पुस्तकों को पढ़ते हैं उनमें संख्या की दृष्टि से उपन्यास सर्वोपरि ठहरता है। कई बार लोग समय व्यतीत करने के लिए या यात्रा की बोरियत को दूर करने के लिए भी 'नाविल' पढ़ते हैं। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि उपन्यास से लोगों का मनोरंजन होता है। अब रही दूसरी बात। किसी बात को युक्तिपूर्वक कहने की, तो यह कार्य भी उपन्यास बखूबी निभा रहा है। यह तो सभी जानते हैं कि उपन्यासकार केवल कथा कहने के उद्देश्य से उपन्यास लिखता है। कथा के द्वारा वह कुछ और कहना चाहता है। वह अपने पाठकों और समाज को कोई संदेश देना चाहता है और यह संदेश वह कथा के ब्याज से देता है। मुंशी प्रेमचंद जह 'निर्मला' उपन्यास लिखते हैं तो उसके पीछे उसका यह बताने का है कि दहेज – प्रथा के कारण न जाने कितनी निरीह, भोलीभाली निर्मलाओं के सपनों पर तुषारापात होता है। एक सुंदर, सुशील कन्या जिसका विवाह किसी योग्य व्यक्ति के साथ होने के बजाय किसी अपात्र के गले मढ़ दी जाय, उसे किसी भी हालत में स्वस्थ समाज का लक्षण नहीं कहा जा सकता। दहेज का यह पिशाच न होता तो निर्मला का विवाह उसके समवयस्क किसी नवयुवान से होता और तब निर्मला को उन सब त्रासद स्थितियों से न गुजरना पड़ता। 'निर्मला' लिखकर मुंशी

प्रेमचंद यही सब कहना चाहते हैं इसको कहते हैं किसी बात जो युक्तिपूर्वक कहना।

अंग्रेजी में कहा गया है – "A novel is not merely a story, it is something beyond the story"[5] अर्थात् उपन्यास केवल कथा मात्र नहीं है, वह कथा से कुछ ऊपर की वस्तु है। उपन्यास में यह 'ऊपर की वस्तु' उसमें व्यक्त विचार और उद्देश्य या जीवन-दर्शन या चिंतन है। उपन्यास में यदि यह न हो तो उसका कोई मूल्य नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे जीवन-दर्शन रहित उपन्यास को 'घासलेटी उपन्यास' की संज्ञा देते हैं।[6] ज्योर्ज स्टीवन्संस ने उपन्यास के इस तत्व-विशेष के संदर्भ में लिखा है – "From every sentence, from every Page, from every chapter, well written Novel echoed and reechoed its one controlling thought."[7] अर्थात् एक अच्छे स्तरीय साहित्यिक उपन्यास से उसके लेखक का दृष्टिकोण, उसके प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक पृष्ठ, प्रत्येक प्रकरण से गुंजित-अनुगुंजित होता है।

अभिप्राय यह कि जब यूरोप से यह नया साहित्य-प्रकार आया तो उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार हमने भारतीय नाट्य-शास्त्र से एक एक शब्द को लेकर उसका नामकरण किया। इस तरह यदि अंग्रेजी मुहावरे का प्रयोग करें तो उपन्यास के संदर्भ में कह सकते हैं – "New wine in òld bottle."

हमारा शोध-प्रबंध हिन्दी के पौराणिक उपन्यासों से सम्बद्ध है, अतः प्रस्तुत अध्याय में उपन्यास-विषयक कतिपय महत्वपूर्ण मुद्दों की पड़ताल करते हुए पौराणिक उपन्यासों के संदर्भ में हम अपने कुछ विचार व्यक्त करेंगे। हिन्दी उपन्यास-साहित्य के इतिहास में पौराणिक उपन्यास का स्थान कहां है, उसे निर्दिष्ट करने के लिए प्रेमचन्दोत्तरकालीन औपन्यासिक प्रवृत्तियों में पौराणिक उपन्यास की प्रवृत्ति को यथाक्रम निर्दिष्ट किया जायेगा।

अपने शोध-प्रबंध में हम एक निश्चित प्रणालि का अनुशरण करेंगे। प्रत्येक अध्याय के अंत में समग्रावलोकन की प्रक्रिया द्वारा उसमें चर्चित विषय-वस्तु पर आधृत निष्कर्ष प्रस्तुत करेंगे। संदर्भ-संकेत (पादटिप्पणी) प्रत्येक पृष्ठ के नीचे न देकर अध्याय के अंत में

'संदर्भानुक्रम' के अंतर्गत यथाविधि रखेंगे। टंकण की सुविधा को ध्यान में रखते हुए ऐसा किया है।

उपन्यास के व्यावर्तक अभिलक्षण :

उपन्यास कथा-साहित्य का प्रकार है और कथा तो नाटक, कहानी, महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरितकाव्य आदि अन्य काव्य-रूपों में भी पायी जाती है; किन्तु वर्तमान साहित्य के परिप्रेक्ष्य में जब हम कथा-साहित्य की चर्चा करते हैं तो मुख्य रूप से दो विधाएं सामने आती हैं – कहानी और उपन्यास। अतः यहां हम उन विशेष अभिलक्षणों की चर्चा करेंगे जो इनको अन्य विधाओं से अलग करती है। जिनको हम अन्य विधाओं और उपन्यास के बीच की विभाजक रेखा कह सकते हैं। ऐसे अभिलक्षणों में निम्नलिखित मुख्य हैं – (1) उपन्यास का गद्य विधा में होना, (2) उपन्यास की यथार्थधर्मिता, (3) परिवेश की यथार्थता, (4) सहज-स्वाभाविक चरित्र-सृष्टि, (5) यथार्थ भाषाशैली। अब इन पर क्रमशः विचार किया जायेगा।

(1) उपन्यास का गद्य-विद्या में होना :

जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, कथा तो महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरितकाव्य इत्यादि में भी होती है; किन्तु उपन्यास इस दृष्टि से इन विधाओं से पृथक है कि यह विशुद्ध रूप से गद्य का ही साहित्य-प्रकार है। और इसलिए उसका आविर्भाव भी गद्य के समुन्नत विकास के उपरान्त ही हुआ। गद्य जब विवरण, विवेचन, विश्लेषण, वितर्क आदि के लिए सक्षम हुआ तभी इस विधा का आविर्भाव हुआ। यह भी निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उपन्यास का प्रथम आविर्भाव यूरोप में इटली, स्पेन, फ्रान्स, ब्रिटेन आदि देशों में हुआ। यूरोप में जो उत्क्रान्ति हुई उसके फलस्वरूप यह नयी साहित्य-विधा अस्तित्व में आयी थी। तभी तो उसे 'नोवेल' कहा गया। यूरोप में उन्क्रान्ति के पश्चात् ही सक्षम गद्य का आविर्भाव हुआ था। इस संदर्भ में डॉ. भारतभूषण अग्रवाल ने अपने शोध-प्रबंध 'हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव' में स्पष्ट रूप से रेखांकित किया है – "वस्तुतः जिसे हम आधुनिक उपन्यास कहते हैं उसकी सम्यक् झलक डिफो-रिचर्डसन-फिल्डिंग, स्मोलेट, स्टर्न प्रभृति अठारहवीं शताब्दी के

अंग्रेजी लेखकों में ही मिलती है। तत्कालीन अँग्रेज़ी समाज में वे परिस्थितियां भलीभांति विकसित हो चुकी थीं जो उपन्यास की प्रौढ़ता के लिए आवश्यक है। एक ऐसे शिक्षित मध्यवर्ग का उदय हो चुका था जो अपने परिवेश और समय में गहरी रूचि रखता था और जिसकी मानसिक भूख निरंतर बढ़ती जा रही थी। दूसरे एडिशन, स्टील आदि निबंधकारों के प्रयत्नों के फलस्वरूप और पत्रकारिता के पर्याप्त विकास के फलस्वरूप ऐसे गद्य का विकास हो चुका था जो वर्णन, विवेचन और चित्रण में समर्थ था। उन्हीं की रचनाओं में यथार्थवाद पहली बार अपनी बलिष्टता और उन्मुखता में चरितार्थ हुआ है।"[8]

और जब इस प्रकार की स्थितियां हमारे देश में उत्पन्न हुई तो उपन्यास जैसी विधा अस्तित्व में आयी; क्योंकि उपन्यास के आविर्भाव हेतु जिस प्रकार के सक्षम, पौढ़ और बलिष्ठ गद्य की आवश्यकता होती है उस प्रकार का गद्य हमारे यहाँ लगभग सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में नवजागरण के बाद आया है। यद्यपि संस्कृत में समुन्न्त और संपन्न गद्य मिलता था, तथापि किन्हीं कारणों से हिन्दी, गुजराती, मराठी, बांगला आदि भाषाओं में गद्य का प्रारंभ आधुनिक काल में ही हुआ है। उसके पूर्व गद्य की कुछ छिटपुट रचानएं मिलती हैं और वह गद्य भी प्रायः पद्य द्वारा अनुशासित ही होता था। उस पर पद्य का अधिक प्रभाव होता था। स्वतंत्र रूप से गद्य का विकास आधुनिक आर्य भाषाओं में उन्नीसवीं शताब्दी से ही मिलता है। सन् 1801 में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई और उसमें जोन गिल क्राइस्ट हिन्दुस्तानी विभाग के प्रथम अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनके अंगर्गत लल्लूलाल गुजराती और मुंशी सदासुखलाल हिन्दी-हिन्दुस्तानी के अध्यापकों के रूप में नियक्त हुए। तब उन्होंने हिन्दी के अध्ययन हेतु कुछेक गद्य पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण किया। लगभग उसी समय विश्वविद्यालयीन शिक्षा से अलग दो अन्य लेखक भी इस क्षेत्र में आये। उनके नाम हैं – पंडित सदल मिश्र और मुंशी इंशाअल्लाखां इन चार लेखकों को हम आधुनिक हिन्दी गद्य-भवन के चार मुख्य स्तंभ कह सकते हैं।

अतः अधिकांशतः उक्त चार लेखकों को आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रवर्तकों में गिना जाता है। यद्यपि इनसे भी पचास साल पूर्व रामप्रसाद निरंजनी के 'भाषा योगवासिष्ठ' में हमें आधुनिक हिन्दी गद्य की कुछ रूपरेखा प्राप्त होती है।[9]

उपर्युक्त चार लेखकों के उपरान्त राजा लक्ष्मण सिंह तथा राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द जैसे भाषाविद् और शिक्षाविद्; आर्यसमाज के स्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती तथा आर्यसमाज के अन्य प्रचारक; भारतेन्दु तथा भारतेन्दु मण्डल के लेखक; आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्याम सुंदर दास, मिश्रबंधु आदि विद्वानों ने हिन्दी गद्य को निरंतर परिमार्जित और संस्कारित किया और जब वह विवरण, विवेचन और विश्लेषण देह, पर्याप्त समृद्ध हो गया तब यूरोप की तरह यहां भी उपन्यास के रूप में 'नोवेल' की यह विधा आविर्भूत हुई। उपन्यास कथा-साहित्य का प्रकार है यह तो एक सुविदित तथ्य है। कथा जो पहले महाकाव्यों, चरितकाव्यों, खण्डकाव्यों, एकार्थकाव्यों में पद्य के रूप में प्राप्त होती थी अब गद्य रूप में कुछ नये कलेवर, सामाजिक सरोकारों और संस्कारों के साथ आने लगी।

यहां एक तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगी। उपन्यास की जो प्रारंभिक परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं उन सब में गद्य अर्थात् 'Prose' के तत्व को विशेषतया रेखांकित किया है। यथा – "A novel is a fictional Prose of considerable length in which actions and character are professing to represent those of real life are portrayed in a plot."[10] यहां उपन्यास के कुछ आवश्यक तत्वों की ओर इशारा किया गया है, परंतु सर्वप्रथम जो बात कही गई है वह उसके गद्यमय होने की है, यथा – उपन्यास एक प्रकथनात्मक गद्य है। इस परिभाषा पर टिप्पणी देते हुए उपन्यास विधा के प्रमुख विद्वान राल्फ फोक्स महोदय ने कहा – "A Novel is not merely fictional Prose, it is a prose of man's life. The first art to attempt the man as a whole and give his expression"[11] यहां भी रेखांकित वाक्यांश में गद्य की ही बात कहीं गई है, परंतु जहां प्रथम परिभाषा में उसे 'प्रकथनात्मक गद्य' कहा गया था, वहां राल्फ फोक्स महोदय ने उसमें एक महत्वपूर्ण टिप्पणी को जोड़ते हुए कहा कि वह (नोवेल)

प्रकथनात्मक गद्य मात्र नहीं है, बल्कि वह 'मानव जीवन का गद्य' है। 'मानव जीवन का गद्य' कहने के पीछे उनका आशय यही है कि उपन्यास में जो गद्य आता है उसका सीधा सम्बन्ध मानव जीवन से है। दूसरे शब्दों में कहें तो लोग जिस भाषा में बोलते हैं उसी भाषा का प्रयोग उपन्यास में होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि उपन्यास में जिस गद्य का प्रयोग होगा वह भाषा पात्रानुरूप और परिवेश के अनुरूप होगी। आगे चलकर ईरा वालफर्ट ने उसे और भी स्पष्ट रूप में कहा – "उपन्यास में प्रयुक्त भाषा मानव-जीवन की सक्रिय या जीवंत भाषा होती है।"[12] दूसरे शब्दों में कहें तो उपन्यास की भाषा में 'Written language' नहीं, अपितु 'Spoken Language' का पुट होना चाहिए।

यह सत्य भी ध्यानर्ह रहे कि उपन्यास का गद्य उसके रूपबन्ध के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। सामाजिक उपन्यासों में गद्य पात्रानुरूप एवं परिवेश की भाषा को लेकर आयेगा। ऐतिहासिक उपन्यासों में भाषागत गद्य उन ऐतिहासिक कालों के अनुरूप होगा। प्राचीन युग हुआ तो भाषा तत्समबहुला होगी, मुस्लिम पिरियड हुआ तो भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का पुट होगा, ब्रिटिश पिरियड हुआ तो अँग्रेजी शब्द तथा अंग्रेज लोग जिस प्रकार की हिन्दी बोलते हैं उसका प्राधान्य रहेगा। समाजवादी-मार्क्सवादी उपन्यास अपना डिक्शन लेकर आयेगा, तो अस्तित्ववादी उपन्यासों में उसकी अपनी विशिष्ट शब्दावली आयेगी। आंचलिक उपन्यास में तो लोकभाषा का यह तत्व और भी मुखर हो उठता है। गुजराती के मूर्धन्य कवि एवं आलोचक उमाशंकर जोशी ने तो रेणु के उपन्यास "मेला आँचल" के संदर्भ में अपनी टिप्पणी देते हुए कहा था कि उसमें लेखक ने कम से कम डेढ़ सौ भाषागत 'टोन्स' का उपयोग किया है।[13] सुप्रसिद्ध कथाकार एवं आलोचक राजेन्द्र यादव फणीश्वरनाथ रेणु के संदर्भ में लिखते है – "रेणु का पाठक कहानी पढ़ता नहीं देखता है, सुनता है। एक-एक ध्वनि, एक-एक रंग, एक-एक गंध को महसूस करता हुआ जीता है। वातावरण-परिवेश जो मात्र कथा-साहित्य का एक तत्व ही माना जाता है, कदाचित् सर्वप्रथम जीवित पात्र की तरह अपना हक रेणु से मांगता है।"[14]

हमारे शोध-प्रबंध का विषय 'पौराणिक उपन्यासों' से सम्बद्ध है और जैसा कि ऊपर निरूपित किया गया है उसका समय तो अति-प्राचीन होता है। अतः पौराणिक उपन्यासों की भाषा का गद्य एक अनोखी छटा लिए हुए रहता है। उसका गद्य तत्सम-बहुल होता है और उसमें उसकी सभ्यता और संस्कृति की महक उपलब्ध होती है। यहां आचार्य चतुरसेन शास्त्री के पौराणिक उपन्यास 'वयं रक्षामः' से गद्य का एक उदाहरण प्रस्तुत है –

"कज्जल-कूट के समान गहन श्यामल, अनावृत्त, उन्मुख यौवन, नीलमणि-सी ज्योतिर्मयी बड़ी-बड़ी आंखें, तीखे कटाक्षों से भरपूर – जिनमें मद्यसिक्त लाल डोरे; मद्यघूर्णित दृष्टि, कम्बूग्रीवा पर अधर-बिम्ब से गहरे लाल, उत्फुल्ल अधर, उज्ज्वल हीरकावलि-सी धवल दन्तपंक्ति, सम्पुष्ट, प्रतिबिम्बित कपोल और प्रलय-मेघ-सी सघन, गहन, काली घुंघराली मुक्तकुन्तलावलि, जिनमें गुंथे ताजे कमल-दल-शतदल, कण्ठ में स्वर्णतार-ग्रथित गुंजा-माल; अनावृत्त, उन्मुख, अचल यौवन-युगल पर निरंतर आघात करता हुआ अंशुफलक, मांसल भुजाओं में स्वर्णवलय और क्षीण कटि में स्वर्णमेखला; रक्ताम्बरमंडित संपुष्ट जघन-नितम्ब, गुल्फ में स्वर्ण पैंजनियां, उनके नीचे हेमतार-ग्रथित कच्छपत चर्म उपानत्-आवृत्त चरण-कमल। सद्यः किशोरी।"[15]

यह वर्णन है, सात हजार वर्ष पूर्व की बलिद्वीप की एक दैत्यकुमारी का जो अपने नृत्य से आबाल-वृद्ध, नर-नागर, नर-नाग, देव-दैत्य-गंधर्व-किन्नर-असुर-मानुष, आर्य-व्रात्य सभी का मनोरंजन कर स्वर्ण-खण्ड बटोर रही है।

अभिप्राय यह कि उपन्यास गद्य की विधा है और जैसे-जैसे हिन्दी गद्य समुन्नत होता जायेगा। उपन्यास के गद्य पर भी उसका प्रभाव पड़ेगा। या यों भी कह सकते हैं कि ज्यों-ज्यों हिन्दी उपन्यास का विकास होता जायेगा, उसमें नये क्षेत्र व आयाम जुड़ते जायेंगे, हिन्दी गद्य भी विकसित एवं प्रांजल होता जायेगा।

(2) उपन्यास की यथार्थधर्मिता :

उपन्यास के अधिकांश आलोचक एवं विद्वान इस बात से पूर्णतया सहमत हैं कि उपन्यास एक यथार्थधर्मी विधा है। यथार्थ का चित्रण तो साहित्य की हर विधा में होता है, किन्तु वह उसकी आवश्यक शर्त नहीं है। कोई काव्य, कोई नाटक नितान्त काल्पनिक वा वायवी हो सकता है। परन्तु उपन्यास यदि सचमुच में उपन्यास है तो यथार्थ से वह कन्नी नहीं काट सकता। उपन्यास के संदर्भ में आदर्शवाद, यथार्थवाद, आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद, आलोचनात्मक यथार्थवाद, चैतसिक यथार्थवाद, प्रकृतिवाद, अस्तित्ववाद आदि विचारधाराओं का उल्लेख प्राप्त होता है ; किन्तु इन सभी वादों और विचारधाराओं में यथार्थ तो किसी-न-किसी रूप में मिलता ही है। प्रारंभिक दौर के नितान्त आदर्शवादी उपन्यासों में भी आदर्श की स्थापना हेतु जिस पृष्ठभूमि का निर्माण होता था वह तो यथार्थ के धरातल से ही होता था। उदाहरणतया प्रेमचंद के वरदान, सेवासदन, प्रेमाश्रम आदि उपन्यासों को लें तो उसमें प्रेमचंद जी ने उनकी परिणति आदर्शवादी ढंग से की है किन्तु आदर्शवाद की उस परिणति तक पहुंचने के के लिए उन्होंने पृष्ठभूमि के रूप में यथार्थ सामाजिक स्थितियों का ही सहारा लिया है। वहां लेखक यथार्थ की भावभूमि से आदर्श की तरफ गये हैं, परंतु यथार्थ का चित्रण और वस्तुवादी दृष्टि (Objectiveness) तो प्रेमचंद में हमें शुरू से ही मिलती है। ऐसा कहा जाता है कि प्रेमचंद की औपन्यासिक यात्रा आदर्शवाद, आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से होते हुए अंततः यथार्थवाद की और गई है। 'गोदान' में हमें यथार्थवादी दृष्टि का चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है।

उपन्यास में यह यथार्थ उसके सभी तत्वों में मिलता है। उसका कथानक यथार्थ पर आधारित होता है, चरित्र यथार्थ पर आधारित होते हैं, उसका वातावरण या परिवेश भी यथार्थ भूमि पर आधृत होते हैं। (उपन्यास का यह तत्व तो आदर्शवादी उपन्यासों में भी मिलता है, उपन्यास चाहे कितना ही आदर्शवादी क्यों न हो उसमें निरूपित वातावरण तो यथार्थवादी होता है।), जब चरित्र-सृष्टि और वातावरण यथार्थवादी होंगे तो उसकी परिणति यथार्थ कथोपकथन में

होगी ही। कथोपकथन के साथ भाषाशैली की यथार्थता का मुद्दा आता है। उसमें निरूपित विचार और उद्देश्य (जीवन-दर्शन) भी यथार्थमूलक होंगे। अभिप्राय यह कि उपन्यास की यह यथार्थधर्मिता उसके एक-एक अंग में प्रतिबिम्बित होती है।

उपन्यास की यह यथार्थधर्मिता उपन्यास-विषयक जो परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं उनमें भी दृष्टिगोचर होती है। अतः उपन्यास से सम्बद्ध कुछ अंग्रेजी तथा हिन्दी की परिभाषाओं पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है।

इस उपक्रम में सर्वप्रथम 'न्यू इग्लिश डिक्शनरी' की परिभाषा आती है – "A Novel is a fictional prose of considerable length in which actions and characters are professing to represent those of real life are portrayed in a plot."[16] अर्थात् उपन्यास प्रकथनात्मक गद्य है जिसमें अपेक्षाकृत विस्तार के साथ, वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाली घटनाओं और पात्रों को एक व्यवस्थित 'प्लोट' में प्रस्तुत किया जाता है। प्रस्तुत परिभाषा में "to represent those of real life" वाली बात जो कही गई है उसका सीधा सम्बन्ध यथार्थ से है।

उसके पश्चात् राल्फ फोक्स की परिभाषा उपलब्ध होती है, जिसमें कहा गया है – "A Novel is not merely a fictional prose, it is a prose of man's life. The first art to attempt the man as a whole and gave his expressions."[17] अर्थात् उपन्यास केवल प्रकथनात्मक गद्य मात्र नहीं है, बल्कि वह मानव-जीवन का गद्य है। उपन्यास वह पहली कला है जिसमें मनुष्य को उसकी समग्रता में देखा जाता है। उसमें मानवीय भावनाओं का चित्रण है। यह परिभाषा तो पूर्णरूपेण यथार्थवादी विचारधारा को रूपायित करती है। उपन्यास मनुष्य को समग्रता के साथ लेनेवाली कला है। समग्रता का अर्थ यह होगा कि मनुष्य को उसकी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ चित्रित करना होगा। उसकी तमाम भाव-भगिमाओं और भाषा के साथ। मनुष्य, मनुष्य होता है। न देवता न राक्षस।

प्रोफेसर एच. जे. मूलर की उपन्यास-विषयक परिभाषा इस प्रकार है – "A Novel is a representation of human experience,

whether redial of liberal and that is why a comment upon life"[18] अर्थात् उपन्यास मानव-जीवन के अनुभव का चित्रण है। यह चित्रण आदर्शवादी भी हो सकता है और यथार्थवादी भी, और इसलिए उपन्यास को हम मानव-जीवन पर की गई टिप्पणी कह सकते हैं। यहां प्रोफेसर मूलर मानव-जीवन के अनुभव की बात करते हैं और अनुभव तो यथार्थ ही होते हैं। अनुभव काल्पनिक नहीं हो सकते। वह ठोस जीवन पर आधारित होते हैं। इन अनुभवों को उपन्यासकार अपने नजरिये से प्रस्तुत करता है। यह नजरिया उसका अपना है पर उसका यह नजरिया आकाश-कुसुमवत् तो नहीं ही हो सकता क्योंकि उसका उत्स यथार्थ जीवनानुभवों में पड़ा है। अनुभव यथार्थ घटनाओं से ही प्राप्त हो सकते हैं। किसी की सुनी-सुनायी बात को हम अनुभव नहीं कह सकते।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के प्रवर्तक हेनरी जेइम्स ने उपन्यास को इस प्रकार परिभाषित किया है – "A Novel is the direct and personal impression of life."[19] अर्थात् उपन्यास लेखक के प्रत्यक्ष एवं वैयक्तिक जीवनानुभवों का आकलन है। यहां हेनरी जेइम्स महोदय ने दो शब्दों पर विशेष तवज्जो दी है – 'Direct' और 'Personal'। 'Direct' का अर्थ है सीधा प्रत्यक्ष। उपन्यास में लेखक जिस जीवन को चित्रित करता है, उसका सीधा-प्रत्यक्ष अनुभव उसे होना चाहिए। किसी के द्वारा कहा हुआ या सुना हुआ नहीं। कहा और सुना हुआ हो तो भी उसके परीक्षण के लिए उसे वहां उन लोगों के बीच जाना होगा। इस तरह इस परिभाषा में भी प्रकारान्तर से यथार्थ की बात को कहा गया है।

अब यहां किसी को प्रश्न हो सकता है कि ऐतिहासिक या पौराणिक उपन्यास (हमारे शोध-प्रबंध के विषय का इससे सीधा सम्बन्ध है।) में लेखक प्रत्यक्ष एवं वैयक्तिक अनुभव कहां से लायेगा? तो उसका उत्तर यह है कि इन उपन्यासों के लेखकों को यथार्थ प्रमाण जुटाने होंगे। उन्हें प्राचीन इतिहास, पुरातत्व, पुराण आदि का गहनतम अध्ययन करना होगा और इन प्रत्यक्ष एवं वैयक्तिक अनुभव के स्थान पर उन्हें प्रत्यक्ष एवं वैयक्तिक प्रमाणों को आत्मसात करना होगा। पौराणिक उपन्यास लिखना कोई आसान

काम नहीं है। उसके लिए बहुत कुछ खंगालना पड़ता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'वयं रक्षामः' उपन्यास की भूमिका 'पूर्व निवेदन' में लिखा है – "सत्य की व्याख्या साहित्य की निष्ठा है। उसी सत्य की प्रतिष्ठा में मुझे प्राग्वेदकालीन नृवंश के जीवन पर प्रकाश डालना पड़ा है। अनहोने, अविश्रुत, सर्वथा अपरिचित तथ्य आप मेरे इस उपन्यास में देखेंगे; जिनकी व्याख्या करने के लिए मुझे उपन्यास पर तीन सौ से अधिक पृष्ठों का भाष्य भी लिखना पड़ा है।[20] (427 पृष्ठों के उपन्यास का भाष्य 300 पृष्ठों का) फिर भी आप अवश्य ही मुझसे सहमत न होंगे।... "इस उपन्यास में प्राग्वेदकालीन नर, नाग, देव, दैत्य, दानव, आर्य अनार्य आदि विविध नृवंशों के जीवन के वे विस्मृत पुरातन रेखाचित्र हैं, जिन्हें धर्म के रंगीन शीशे में देखकर सारे संसार ने उन्हें अंतरिक्ष का देवता मान लिया था। मैं इस उपन्यास में उन्हें नर-रूप में आपके समक्ष उपस्थित करने का साहस कर रहा हूं।"[21]

अभिप्राय यह कि यहां भी मिथक-तत्वों में दबे-छिपे यथार्थ को उजागर करने के लिए लेखक उन पौराणिक पात्रों को यथार्थ के धरातल पर लाने के लिए भरसक प्रयत्न करते हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री के जीवन-भर के अध्ययन का परिणाम है – वयं रक्षामः जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा तत्कालीन राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने भी की है।

ऊपर उपन्यास की यथार्थधर्मिता के संदर्भ में हमने कुछेक अंग्रेजी परिभाषाओं का विश्लेषण किया, अब कुछेक हिन्दी परिभाषाओं को भी खंगाला जाय। प्रथमतः इसी क्रम में डॉ. श्याम सुंदर दास की उपन्यास-विषयक परिभाषा आती है – "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"[22] इस परिभाषा में डाक्टर साहब बहुत ही स्पष्ट तरीके से कहते हैं कि उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की कथा है। यद्यपि यह कथा काल्पनिक होती है। प्रथम दृष्टया यह विधान कुछ-कुछ विरोधाभासी लग सकता है। यहां डाक्टर साहब कदाचित् यह कहना चाहते हैं कि उपन्यास में जिस कथा को लिया जाता है उसका सम्बन्ध हमारे वास्तविक जीवन से होना चाहिए। अर्थात् उपन्यास को पढ़ते हुए यह अहसास होना चाहिए

कि हमारे चारों तरफ का जो समाज और जीवन है वह बिल्कुल ऐसा ही है। उपन्यास को पढ़ते हुए पाठक को यह प्रतीति होनी चाहिए कि जीवन में ऐसा हो सकता है। जहां भी पाठक को यह लगे कि नहीं, ऐसा तो नहीं हो सकता, ऐसा तो किस्से-कहानियों में ही संभव है, तो उसे उपन्यास की असफलता ही समझना चाहिए। दूसरी बात जो उन्होंने कही है, उसका सम्बन्ध उपन्यास की रचना-प्रक्रिया से है। उपन्यासकार समाज के किसी व्यक्ति की जीवनी का आलेखन नहीं करता है। घटनाओं में यथार्थता होते हुए भी लेखक उपन्यास की कथा तो गढ़ता ही है। तभी तो उसे कला कहा जायेगा। उदाहरणतया 'गोदान' में जब मुंशी प्रेमचंद होरी की कथा को लिखते है तो उनके सामने होरी नामक कोई एक किसान नहीं रहा होगा, बल्कि लेखक ने होरी जैसे अनेकों किसानों को देखा होगा और उसके आधार पर उन्होंने इस पात्र की कल्पना की होगी।

दूसरी परिभाषा स्वयं उपन्यास-सम्राट मुंशी प्रेमचंद की है – "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूं। मानव के चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को उदघाटित करना ही उपन्यासकार का कार्य है।"[23] प्रस्तुत परिभाषा में प्रेमचंद जी उपन्यास में चरित्र की यथार्थता पर प्रकाश डालते हैं। मनुष्य के चरित्र के कई रूप और आयाम होते हैं। उपन्यासकार उन रूपों और आयामों को पाठक के सम्मुख रखने का संनिष्ठ प्रयास करता है। यद्यपि मनुष्य का चरित्र बहुत ही पेचीदा होता है और उसे समझना बड़ा कठिन होता है, तथापि उपन्यासकार की कोशिश यह रहती है कि मनुष्य के इस चरित्र को वह यथाशक्ति उदघाटित करे। यह कोशिश जितनी ही सफल होगी उपन्यासकार उतना ही सफल माना जायेगा।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने तो उपन्यास के संदर्भ में सीधे ही कह दिया है – "उपन्यास में दुनिया जैसी है वैसी ही चित्रित करने का प्रयास रहता है।"[24] आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने उपन्यास के संदर्भ में लिखा है – "उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य है। उसमें मानव-जीवन और मानव-चरित्र का चित्रण उपस्थित किया जाता है। वह मनुष्य-जीवन और चरित्र की व्याख्या करता है।"[25] डॉ. गणेशन ने अपनी उपन्यास-विषयक परिभाषा में स्पष्ट किया है –

"उपन्यास मनुष्य के सामाजिक या वैयक्तिक अथवा दोनों प्रकार के जीवन का रोचक साहित्यिक रूप है, जो प्रायः एक कथा-सूत्र के आधार पर निर्मित होता है।"[26] डॉ. एस. एन. गणेशन ने सामाजिक और वैयक्तिक दोनों प्रकार के जीवन के यथार्थ और चैतसिक यथार्थ की और संकेत करते हैं। सामाजिक, आंचलिक, ऐतिहासिक, पौराणिक आदि औपन्यासिक रूपों में बाह्य या सामाजिक यथार्थ विशेषतया चित्रित होता है; जबकि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में आंतरिक, मानसिक या चैतसिक यथार्थ को तरजीह दी जाती है। इसका यह कतई नहीं कि सामाजिक आदि उपन्यासों में चैतसिक यथार्थ नहीं होता है, यहां केवल परिणाम की बात है। अन्यथा श्रेष्ठ उपन्यास की रचना इन दोनों प्रकार के यथार्थ – चित्रण के अभाव में हो ही नहीं सकती।

हिन्दी साहित्य कोश में उपन्यास को इस प्रकार परिभाषित किया गया है – "यह शब्द 'उप' (समीप) तथा 'न्यास' (थाती) के योग से बना है जिसका अर्थ हुआ (मनुष्य के) निकट रखी हुई वस्तु, अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसको पढ़कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिबिम्ब है।"[27] साहित्यकोश की प्रस्तुत परिभाषा भी उपन्यास की यथार्थधर्मिता को ही उजागर करने वाली है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यास और यथार्थ ये दो शब्द एक-दूसरे के पूरक हो गये हैं। डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने 'विवेक के रंग' नामक ग्रन्थ में आधुनिक साहित्य के कुछ रूपों को संपादित किया है। वहां पर जहां 'उपन्यास' का परिचय दिया गया है, उस विभाग को शीर्षक मिला है – 'यथार्थ की पहचान'। इसका सीधा अर्थ यही लिया जा सकता है कि उपन्यास में लेखक यथार्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता। यहां तक कि ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यासों में भी तत्कालीन सामाजिक जीवन एवं परिवेश के यथार्थ को लेखक नजर अन्दाज़ नहीं कर सकता। बल्कि उसके लिए उसे काफी अध्ययन और अनुसंधान करना पड़ता है। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो देशकाल-विरूद्ध दूषण के समाविष्ट हो जाने का खतरा उस पर मंडराता है। पश्चिम में ऐतिहासिक उपन्यासकार

वृन्दावनलाल वर्मा तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री, गुजराती के लब्धप्रतिष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार कन्हैयालाल माणेक लाल मुंशी अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखन के पूर्व खूब-खूब संशोधन करते थे। इस संदर्भ में आंग्ल उपन्यासकार एवं विवेचक जायस केरी महोदय लिखते हैं –

"Mr. Carry explained that he was now 'plotting' the book. There was research yet to be done. Research, he explained, was sometimes a bore, but it was necessary for getting the political and social back-ground of his work right."[28] सुप्रसिद्ध आस्कार एवार्ड विजेता फिल्म 'लोरेन्स औफ अरेबिया' का अभिनेता वाटर टु पाल अपने अभिनय में यथार्थ का स्पर्श लाने के लिए साढ़े तीन साल तक अरबस्तान में रहा था। यहां जो बात फिल्म अभिनय की है वही बात उपन्यास के लेखन पर भी लागू होती है।

उपन्यास में 'यथार्थधर्मिता' के निर्वाह की यह शर्त पौराणिक उपन्यासों पर भी लागू होती है। पुराण कथाओं में कई चमत्कारिक घटनाओं का आलेखन करता है। पौराणिक उपन्यासकार यदि उन घटनाओं का आलेखन करता है तो वह उनमें निहित चमत्कारिक अंशों को अपने तर्कों द्वारा निरस्त्र कर देगा और उन घटनाओं को यथार्थ स्वरूप में तार्किक परिणति के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगा। वास्तविक पौराणिक उपन्यासों के प्रवर्तक डॉ. नरेन्द्र कोहली ने अपने रामायण तथा महाभारत पर आधारित उपन्यासों में अनेक चमत्कारपूर्ण अलौकिक घटनाओं का आलेखन लौकिक धरातल पर किया है और तार्किक दृष्टि से उन घटनाओं को विश्वसनीय एवं संभव (Probable) बनाने की चेष्टा की है।

उदाहरणतया रामायण पर आधृत 'दीक्षा' उपन्यास में उन्होंने पूरे अहल्या प्रसंग को तार्किक संगति के साथ प्रस्तुत किया है। अहल्या के पति ऋषि गौतम एक विद्यापीठ के कुलपति है। मिथिला-नरेश शीरध्वज जनक एक विशेष आयोजन में विशेष अतिथि है और देवराज इन्द्र उसमें शासक के रूप में आमंत्रित हैं। अहल्या के अद्वितीय सौन्दर्य पर मुग्ध होकर देवराज इन्द्र ब्राह्ममुहूर्त में अंधेरे का लाभ उठाते हुए गौतम ऋषि के वेश में अहल्या को बलाकृत करते हैं।

तब आघात और बदनामी के कारण महर्षि गौतम अहल्या को वहीं छोड़कर अपनी विद्यापीठ को अन्यत्र ले जाते हैं। अपमानित प्रताड़ित एवं एकाकी अहल्या उस आघात से जड़ीभूत होकर संज्ञाहीन हो जाती है और अनेक वर्षों बाद राम-लक्ष्मण के वहां लौटने पर उनकी सहानुभूति और संवेदनापूर्ण बातों के कारण उसकी संज्ञा लौट आती है; जबकि पुराणों में गौतम ऋषि के अभिशाप के कारण वह पत्थर की शीला में परिवर्तित हो गई थी। आघात से जड़ीभूत हो जाना, जड़ हो जाना, स्वाभाविक है। और वही अहल्या के साथ हुआ था।[29] ठीक उसी तरह हनुमान द्वारा समुद्र-संतरण के प्रसंग को भी उन्होंने यथार्थ की भावभूमि पर प्रस्तुत किया है। यहां हनुमान उड़कर नहीं, अपितु तैरकर जाते हैं।[30]

अभिप्राय यह कि उपन्यास चाहे सामाजिक हो, चाहे ऐतिहासिक; चाहे आंचलिक हो या मनौवैज्ञानिक या फिर पौराणिक ; किन्तु उपन्यासकार उसका आलेखन यथार्थ को ध्यान में रखकर ही करता है। इस प्रकार यथार्थधर्मिता उपन्यास का प्राण-तत्व है।

(3) परिवेश की यथार्थता :

यद्यपि यथार्थधर्मिता के संदर्भ में इसे स्पष्ट किया जा चुका है कि उपन्यास के सभी तत्वों के संदर्भ में यथार्थ का विशेष आग्रह रखा जाता है, तथापि उपन्यास के व्यावर्तक लक्षण के संदर्भ में हम यथार्थ परिवेश को विशेषतया रेखांकित करना चाहते हैं, क्योंकि उपन्यास यथार्थ की विद्या है और उसके यथार्थ निर्माण के लिए परिवेश का यथार्थ होना अत्यंत आवश्यक है। संसार के कई सर्वश्रेष्ठ उपन्यास उनके यथार्थ परिवेश के कारण ही उत्कृष्ट बन पड़े है। उपन्यास का परिवेश या वातावरण यदि यथार्थ प्रतीत होता है तो उससे उपन्यास की विश्वसनीयता बढ़ जाती है। यथार्थ अर्थात् सत्य का निरूपण और सत्य की प्रतीति का बहुत कुछ आधार परिवेश, वातावरण या देशकाल पर निर्भर है। इसमें मुख्यतया दो तत्व हैं – देश और काल। 'देश' अर्थात स्थान या प्रदेश और 'काल' अर्थात् समय। यथार्थ की परिणति को प्रथम देश या स्थान या प्रदेश के संदर्भ में देखें। कोई एक प्रसंग या घटना या किसी पात्र-विशेष का

व्यवहार जो किसी एक प्रदेश में यथार्थ प्रतीत होता है, दूसरे प्रदेश वह अयथार्थ भी हो सकता है। उदाहरणतया निर्मल वर्मा कृत 'वे दिन' उपन्यास की रायना के चरित्र को यदि हम यूरोप की भूमि से विच्छिन्न कर दें तो वह चरित्र हमे अस्वाभाविक अतएव अयथार्थ प्रतीत होगा। रायना 'सेक्स' को एक शारीरिक आवश्यकता समझती है। वह उसे आहार-पूर्ति की भांति ही सहज मानती है और उसके लिए वह नैतिकता-अनैतिकता, धर्म-अधर्म या पाप-पुण्य के प्रश्न को बीच में नहीं लाती। 'विकेण्ड' या लम्बी छुट्टियों में जब वह आस्ट्रिया से बाहर जाती है, किसी दूसरे यूरोपीय देश में, तब वह अपने मन-पसंद के किसी भी युवक को चून कर उसके साथ 'सेक्स' मनाती है। पहले पुरुष स्त्री को भोगता था, यहाँ एक स्त्री पुरुष को भोगती है।[31] किन्तु ध्यान रहे यूरोपीय पृष्ठभूमि में यह चरित्र हमें स्वाभाविक लगेगा, भारतीय पृष्ठभूमि में यही चरित्र अस्वाभाविक हो सकता है।

'वयं रक्षामः' उपन्यास में पौलस्त्य वैश्रवण रावण बलिद्वीप में दैत्यबाला के साथ रमण करता है। रावण जब उससे कहता है कि अब तो तू मेरी है। तब बलिद्विप की वह दैत्यबाला कहती है कि मैं दैत्यकन्या हूं और दैत्यबाला की यह मर्यादा नहीं होती है। रावण उसे कहता है कि मैं तुझे प्यार करता हूं। उसके उत्तर में वह कहती है – "तो तू प्यार कर, अनुमति देती हूं। किन्तु तू ही पहला पुरुष नहीं है, तुझसे पहले बहुत आ चुके हैं, तू ही अंतिम नहीं है, और अनेक आएंगे।"[32] यह बात बलिद्वीप की दैत्यबाला ही कह सकती है। अतः एक विशिष्ट प्रदेश की परंपरा में यह अनैतिक या अस्वाभाविक नहीं है।

'परिवेश' या 'देशकाल' का दूसरा आयाम है – 'काल' अर्थात् समय। यहां समय से अभिप्राय उपन्यास में निरूपित समय से है। समय का भी अपना एक महत्व होता है। कोई एक बात जो किसी 'समय-विशेष' में सत्य या यथार्थ प्रतीत होती है, बही बात समय के परिवर्तित होते ही असत्य या अस्वाभाविक लग सकती है। ऊपर निर्मल वर्मा के उपन्यास 'वे दिन' की नायिका रायना का जो चरित्र है, उसमें समय के तत्व का भी महत्व है। यूरोप में भी

विक्टोरियन युग में रायना का चरित्र हमें अस्वाभाविक लगेगा। उपन्यास में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उसमें जो समय है वह दूसरे विश्वयुद्ध के बाद का है। यूरोप ने जिन दो महायुद्धों की विभीषिका को झेला है उनमें मानवीय भावनाओं और संवेदनाओं के चिथरे-चिथरे हो गये थे। सम्पूर्ण यूरोपीय जीवन छिन्न-विछिन्न हो गया था। सारे मानवीय मूल्य चरमरा गये थे। रायना ठीक ही कहती है – "लेकिन कुछ चीजें है जो लड़ाई के बाद मर जाती हैं – शांति के दिनों में, मैं उनमें से एक थीं।... वे घरेलू जिन्दगी में खप नहीं पाते।... मैं किसी काबिल नहीं रह गयी हूं... नाट इवन फोर लव... पीस किल्ड इट..."[33] अतः रायना के चरित्र को समझने के लिए, उसकी यथार्थता के मूल्यांकन के लिए, हमें उपन्यास में निरूपित समय को भी देखना होगा।

जगदीशचन्द्र द्वारा प्रणीत 'धरती धन न अपना' उपन्यास में चाची प्रतापी जब दश रूपये का नोट लेकर छज्जू शाह के पास चीनी लेने जाती है, तब उस दश के नोट को देखकर आश्चर्य से छज्जू शाह की आंखें फट जाती हैं। इस दश के नोट का ही प्रभाव था कि छज्जू शाह बाद में काली को बाबू कालिदास कहता है।[34] यहां ध्यान देने योग्य जो बात है वह समय की है। उपन्यास में निरूपित समय आजादी के पहले का है जब दश रूपये का इतना मूल्य होता था। किसी गरीब व्यक्ति के पास उसका होना आश्चर्य की बात मानी जाती थी। आज यदि कोई दश छोड़ सौ रूपये का नोट लेकर जाए तो भी किसीको आश्चर्य नहीं होगा। अभिप्राय यह कि उपन्यास में निरूपित समय का भी अपना महत्व होता है। एक समय में जो चीज वास्तविक लगती है दूसरे समय में वह अवास्तविक भी हो सकती है।

देशकाल – वातावरण या परिवेश के यथार्थ चित्रण के लिए उपन्यासकारों को कष्टप्रद शोध-प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है जिसका जिक्र हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में आंग्ल उपन्यासकार जायस कैरी के मत को उद्धृत करते हुए कर चुके हैं। उपन्यास में वातावरण या देशकाल के महत्व को इंगित करते हुए डॉ. पारूकान्त देसाई ने लिखा है – "वातावरण या देशकाल का चित्रण उपन्यास की वास्तविकता में वृद्धि करता है। मनुष्य बहुधा देशकाल की उपज होता है। अंग्रेज स्वभावतः

रीजर्व्ड, अमेरिकन व्यवसायी, जर्मन वैज्ञानिक एवं भारतीय धर्मभीरू होता है। गुजरात में हिसाबी के लिए 'अमदावादी' और मनमौजी और रंगीले व्यक्ति के लिए 'सुरतीलाला' जैसे शब्द-प्रयोग मिलते हैं। स्थल की भांति काल या समय भी व्यक्ति के वैचारिक धरातल को प्रकाशित करता है। सामंतकालीन व्यक्ति का चिंतन गांधीवादी नहीं हो सकता। अतः उपन्यास में देशकाल का महत्व और भी बढ़ जाता है। वातावरण वह 'फ्रेम' है जिसमें उपन्यास की कथावस्तु रूपी 'फोटोग्राफ' को रखा जाता है। व्यक्ति के निर्माण में वातावरण का बहुत कुछ हाथ होता है। जिस तरह बिना अंगूठी के नगीना शोभा नहीं देता, उसी प्रकार बिना देशकाल के पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नहीं होता है और घटना क्रम को समझने के लिए इसकी आवश्यकता रहती है।"[35]

वातावरण या देशकाल के लिए सुप्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार दोस्त्योवस्की ने एक स्थान पर लिखा है कि पात्र इतने यथार्थ हों कि हम उनमें अपने आपको रख सकें और वातावरण इतना यथार्थ हो कि हम उसमें चल-फिर सकें।[36] आजकल के उपन्यासों में तो देशकाल का चित्रण वैज्ञानिक सीमा तक पहुंच गया है। पश्चिम में हार्डी के 'वेसेक्स नोवेल्स' अपने 'ज्योग्रोफिकल सैटिंग' के लिए विख्यात हैं। इस तत्व के आधार पर अंग्रेजी में आयरिश नोवेल्स, स्काट-नोवेल्स जैसे कुछ प्रकार प्रचलित हुए हैं। अंग्रेजी में ऐसे उपन्यासों को 'नोवेल्स आफ लोकल कलर्स' कहा गया है। गुजराती में हम इसे 'जानपदीय नवलकथा' और हिन्दी में 'आंचलिक उपन्यास' कहते हैं।

यद्यपि सभी प्रकार के उपन्यासों में देशकाल के यथार्थ चित्रण पर ध्यान दिया जाता है, तथापि उल्लिखित आंचलिक प्रकार के उपन्यासों में तो देशकाल या वातावरण का चित्रण विज्ञानिक सीमा तक पहुंच जाता है। वस्तुतः आंचलिक उपन्यासों में 'देशकाल' या 'वातावरण' को उनके नायक का दर्जा मिला हुआ है। 'मैला आँचल' का नायक बिहार के पूर्णिया जिले का मेरीगंज गांव ही तो है। आंग्ल उपन्यासकार आडुल्स हक्सले अपने उपन्यास 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में मेक्सिको के यथार्थ वर्णन के लिए उस शहर की अनेकों बार यात्रा

करते हैं। शैलेश मटियानी के 'किस्सा नर्मदाबेन गंगू बाई' तथा 'बोरीवली से बोरीवन्दर तक' जैसे उपन्यासों में मुंबई का यथार्थ वर्णन उपलब्ध होता है, क्योंकि मटियानी जी स्वयं अनेकों साल मुंबई के फुटपाथों और झोंपड़पट्टियों में रहे हैं। उदय शंकर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' में मुंबई के समीपस्थ बरसोवा बस्ती का चित्रण हुआ है। उसके चित्रण में यथार्थता लाने के लिए लेखक कई-कई महीनों तक वहां रहे हैं।

राजेन्द्र यादव ने उपेन्द्रनाथ अश्क़ के उपन्यास 'गर्म राख' की समीक्षा करते हुए लिखा है – "मेरा यह दावा है कि एक शहर अपनी अधिकत्तम विशेषताओं के साथ किसी भी उपन्यास में शायद ही इतना मुखर हुआ हो, जितना लाहौर 'गर्म राख' में हुआ है। वहां की भीड़, धूल-धक्कड़, कहकहे , गन्दगी, भैंसों की पूंछों स उछलता हुआ कीचड़, तांगे, फैशन, सुबह-शाम, स्त्री-पुरुष, पंजाबी गालियां और सम्बोधन – सबकुछ इतने उभरकर सामने आये हैं कि उपन्यास समाप्त करने पर लगता है, जैसे लाहौर के उसी वातावरण में रह कर आये हों।"[37]

अभिप्राय यह कि उपन्यासों में देशकाल या वातावरण के यथार्थ चित्रण का विशेष महत्व है। यही वह तत्व है जो आधुनिक कथा-साहित्य को प्राचीन कथा-साहित्य से अलगाता है।

हमारा शोध-प्रबंध पौराणिक उपन्यासों से जुड़ा हुआ है और पौराणिक उपन्यासों में तो देशकाल या वातावरण का सविशेष ध्यान रखना पड़ता है। ध्यान रहे, पौराणिक उपन्यास, उपन्यास है, पुरा-कथा नहीं प्राचीन पौराणिक आख्यानों में देशकाल का उतना ध्यान नहीं रखा जाता था, किन्तु आज जो पौराणिक उपन्यास हमें प्राप्त होते हैं उनमें देशकाल या वातावरण को विशेष रूप से रेखांकित किया जाता है। डॉ. नरेन्द्र कोहली ने रामायण की कथावस्तु पर 'दीक्षा', 'अवसर', 'संघर्ष की ओर' और 'युद्ध' जैसे उपन्यास ; तथा महाभारत की कथावस्तु पर आधारित उपन्यास माला 'महासमर भाग-1' से 'महासमर भाग-8' का निर्माण किया है और उन उपन्यासों को लिखने से पूर्व उनमें निरूपित यथार्थ देशकाल के अंकन

के लिए उन्होंने काफी परिश्रम उठाया है। रामायण तथा महाभारत के समय को अपने यथार्थ स्वरूप में चित्रित करने के लिए उन्होंने अनेक ग्रन्थों का आधार लिया है। जब हम इन उपन्यासों को पढ़ते हैं तो रामायण और महाभारत के समय का भारतीय समाज, उसके रीति-रिवाज, उसकी मान्यताएं, विश्वास-अविश्वास आदि प्रत्यक्ष हो उठते हैं।

(4) सहज-स्वाभाविक चरित्र-सृष्टि :

उपन्यास में सहज-स्वाभाविक तथा यथार्थ चरित्र-चित्रण की हिमायत प्रेमचंद से शुरू हो गई थी। प्रेमचंद ने अपनी उपन्यास-विषयक परिभाषा में ही उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए मानव-चरित्र के रहस्यों को उदघाटित करने की बात कही थी।[38] यही कारण है कि डॉ. एस. एन. गणेशन ने प्रेमचंद के संदर्भ में कहा था कि मानव-चरित्र की सर्वप्रथम पहचान हमें प्रेमचंद में प्राप्त होती है।[39]

अभिप्राय यह कि उपन्यास में पात्रों का चरित्र-चित्रण बिल्कुल सहज और स्वाभाविक ढंग से होना चाहिए। पात्रों के चरित्र-चरित्र में थोड़ी सी अस्वाभाविकता, उपन्यास के यथार्थ, अतएव उसके सौन्दर्य को खण्डित कर सकती है। उपन्यास में आने वाले पात्र हमारी अपनी दुनिया के होने चाहिए। उनको पढ़ते हुए यह अहसास बराबर बना रहना चाहिए कि यह हमारे ही समाज के लोग हैं। ई. एम. फारर्स्टर ने अपने 'आस्पेक्ट्स आफ द नोवेल' नामक ग्रन्थ में उपन्यास के तत्वों के संदर्भ में 'पात्र' के लिए 'पिपल' शब्द का प्रयोग किया है।[40] इससे फारर्स्टर महोदय का अभिप्राय बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि वे उपन्यास में सहज-स्वाभाविक 'प्रोबेबल' चरित्रों पर जोर देते हैं। उपन्यास के पात्र हमारे अपने समाज के होने चाहिए, यह कहने पीछे हमारा आशय यह है कि भले ही हम उस समाज के अंग न हों, परंतु उस प्रकार के समाज का अस्तित्व देशकाल की सीमाओं के तहत कहीं-न-कहीं होना अवश्य चाहिए। बात की स्पष्टता हेतु हम एक-दो उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

नागार्जन कृत 'वरुण के बेटे' उपन्यास में बिहार के ग्रामीण अंचल के मछुआरों का जीवन चित्रित हुआ है। अतः स्पष्ट है कि

बहुत-से पाठकों को इस प्रकार के समाज का अनुभव न हों। तो प्रस्तुत उपन्यास में निरूपित पात्रों को हम 'समाज के नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते। बल्कि यदि हम ऐसे किसी उपन्यास को पढ़ते है तो चरित्र-सृष्टि का एक नयासंसार हमारे सामने खुलता है। इसी तरह शैलेश मटियानी के कुमाऊं के जन-जीवन पर के उपन्यासों में – 'हौलदार', 'चिट्ठीरसैन', 'एक मूठ सरसों' तथा 'चौथी मुट्ठी' आदि-आदि – हमें कुमाऊं की ग्रामीण-सृष्टि का अनुभव होता है। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के लेखकों के उपन्यासों के द्वारा हमें नये-नये प्रदेश के समाज के लोगों का, उनके रीति-रिवाजों का ज्ञान होता है।

उपन्यास विधा के मूर्धन्य आंग्ल आलोचक राल्फ फोक्स ने तो अपने उपन्यास-विषयक ग्रन्थ का नाम ही 'नोवेल एण्ड द पिपल' रख दिया है। इससे प्रत्यक्षतया प्रमाणित हो जाता है कि उपन्यास में निरूपित पात्रों को वे 'पिपल' शब्द की संज्ञा देते हैं। इसके द्वारा वे यही स्थापित करना चाहते हैं कि उपन्यास के पात्र हमारे समाज के लोगों-से होने चाहिए। किसी पात्र को पढ़ते हुए यह प्रतीति नहीं होनी चाहिए कि यह हमारे समाज का नहीं है या ऐसा कोई पात्र तो समाज में हो ही नहीं सकता। उपन्यास में यथार्थ के निर्माण के लिए सहज-स्वाभाविक पात्रों का होना अत्यन्त आवश्यक है। पात्र आरोपित या लेखक की कठपुतली से नहीं होने चाहिए। लेखक उनका निर्माण करता है, उनका स्रष्टा है, परंतु उन पात्रों का व्यक्तित्व उनका अपना होना चाहिए। यदि पात्र लेखक के हाथों की कठपुतली बन जाते हैं तो उससे उपन्यास का सौन्दर्य खंडित हो जाता है। इस बात का ध्यान उन लेखकों को सविशेष रखना चाहिए जो किसी विचारधारा के तहत लिखते हैं। अपनी विचारधारा के आरोप हेतु उनको तदनुरूप पात्रों की सृष्टि करनी चाहिए। इस संदर्भ में आंग्ल उपन्यासकार थैकरे महोदय का स्पष्ट मंतव्य है – "I do not have control on my charactors, they take me wherever they like"[41] अर्थात् मेरा अपने पात्रों पर कोई वश या कन्ट्रोल नहीं होता। एक बार पात्रों का निर्माण हो गया तो उनको मैं खुले जगत में छोड़ देता हूं और वे मुझे वहां-वहां ले जाते हैं, जहां-जहां वे ले जाना चाहते हैं। थैंकरे के इस कथन से बात स्पष्ट हो जाती है कि एक बार जब लेखक अपने पात्रों के गुण-दोष, उनकी

विशेषताओं और मर्यादाओं को आंक देता है तो फिर उनका व्यवहार उनके अनुरूप ही होगा। किसी पात्र के विचारों में आमूलचूल परिवर्तन के लिए उसको किसी बड़े अनुभव से गुजरना होगा। उदाहरण के तौर पर मुंशी प्रेमचंद के उपन्यास "गोदान" का होरी उपन्यास के प्रारंभ से ही धर्मभीरू, लोकभीरू, समाजभीरू बताया है। अतः पूरे उपन्यास में हम उसका व्यवहार उसके अनुरूप ही पाते हैं। बनिस्बत इसके धनिया का चरित्र तेज तर्रार है। वह जीवट वाली जुझारू औरत है। अतः उपन्यास के अनेक प्रसंगों में उसका व्यवहार उसकी प्रकृति के अनुसार ही मिलता है। इसे कहते है सहज-स्वाभाविक यथार्थ चरित्र-चित्रण। उपन्यासकार अपने पात्र को उपन्यास में एक प्रकार का बतावे और यदि उसका व्यवहार दूसरे प्रकार का हो तो उसे अस्वाभाविक ही माना जायेगा।

उपन्यास के पात्रों में सहजता और स्वाभाविकता लाने के लिए उपन्यासकार को प्रत्येक स्तर पर ध्यान रखना पड़ेगा। उसके आचार-विचार, व्यवहार, बोली-ठोली आदि सभी में स्वाभाविकता के दर्शन होने चाहिए। पात्रों की भाषा ही नहीं, उनके विचार भी उनके परिवेश के अनुरूप होने चाहिए। 'वरूण के बेटे' उपन्यास की नायिका मधुरी उपन्यास के प्रारंभ में बहुत सीधी-सादी समझदार मछुआरा-कन्या के रूप में हमारे सामने आती है, परंतु उपन्यास के अंत में हम देखते हैं कि वह एक जिला मजिस्ट्रेट को भी टके-सा जवाब दे देती है। प्रसंग इस प्रकार का है। मधुरी जब मुछुआरे संघ में शामिल हो जाती है तब डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मधुरी पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं – "मोहन माझी ने आखिर तुम्हें भी कोम्युनिज्म का पाठ पढ़ा ही दिया। राजनीति ही तो एक चीज़ थी जिससे गांव की हमारी बहू बेटियों ने अपने पास फटकने नहीं दिया था, लेकिन तुम को देखता हूं..."[42] मेजिस्ट्रेट साहब की इस व्यंग्यात्मक बात का उत्तर देते हुए मधुरी कहती है – "तो इसमें क्या हर्ज है हुजूर? जिनगी और जहान औरत के लिए नहीं है क्या?"[43] मधुरी के इस उत्तर से मेजिस्ट्रेट के चेहरे पर खिसियानपट छा जाता है। परंतु इसके लिए नागार्जुन ने उन तमाम घटनाओं और परिस्थितियों का निर्माण किया है जिनके कारण इसकी यह परिणति हमें अत्यन्त स्वाभाविक लगती है।

हमारे शोध-प्रबंध का विषय पौराणिक उपन्यासों से सम्बद्ध है, अतः इस संदर्भ में पौराणिक उपन्यासों से एक-दो उदाहरण लेकर बात करेंगे। डॉ. नरेन्द्र कोहली द्वारा प्रणीत 'बंधन' उपन्यास को यदि हम देखें तो सत्यवती, अंबिका, अंबालिका आदि पात्रों का आलेखन जिस प्रकार हुआ है, आज की दृष्टि से वह हमें अस्वाभाविक लग सकता है। सत्यवती कुरु सम्राट शान्तनु की पत्नी है। उसके पुत्र विचित्रवीर्य का असमय निधन हो जाता है, तब कुरु वंश को आगे बढ़ाने हेतु सत्यवती भीष्म को आदेश देती है अंबिका और अंबालिका के लिए वह नियोग की व्यवस्था करें। नियोग हेतु महर्षि पराशर के पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास को आमंत्रित करने का प्रस्ताव भी वह रखती हैं। सत्यवती भीष्म से यह भी कहती है कि महर्षि व्यास उनका कानीन पुत्र है। कानीन पुत्र उसको कहते है जिसका जन्म उसकी मां के विवाह के पूर्व हुआ हो। नियोग-विधि में स्त्री किसी पुरुष के साथ सहशयन करते हुए उससे संतान प्राप्त करती है। यहां पर राजमाता सत्यवती जो अंबिका और अंबालिका की सास भी हैं, पुत्र प्राप्ति हेतु, अपनी ही बहुओं के लिए दूसरे पुरुष की व्यवस्था करवाती हैं। व्यास अंबिका से सहवास करते हैं और उससे धृतराष्ट्र का जन्म होता है। व्यास और अंबालिका के नियोग से पाण्डु का जन्म होता है।

अब यहां प्रश्न यह उठता है कि जो सास अपनी बहू के लिए पर-पुरुष की व्यवस्था करे, उस सास को क्या समझा जाए? और वह स्वयं अपने सौतेले पुत्र भीष्म से कहती है कि व्यास उसका कानीन पुत्र है, और यह कहते हुए उन्हें किसी प्रकार की लाज-शरम का अनुभव नहीं होता है। आज की दृष्टि से तो ऐसी स्त्री को निर्लज्ज, बेहया और कुलटा ही माना जायेगा और ये चरित्र हमको बहुत ही अस्वाभाविक-से प्रतीत होंगे; किन्तु यदि हम महाभारतकालीन समाज-व्यवस्था, धर्म और शास्त्र व्यवस्था पर दृष्टिपात करें तो ये चरित्र हमें सहज-स्वाभाविक वा यथार्थ लगेंगे। महाभारतकाल में ऋषि-परंपरा में कानीन पुत्र को मान्यता प्राप्त थी। अर्थात् कोई कन्या अविवाहित अवस्था में किसी पुरुष से काम-सम्बन्ध स्थापित करती है तो उसे अनुचित नहीं समझा जाता था। उस प्रकार के काम-

सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र को 'कानीन' पुत्र कहते थे। अंबिका और अंबालिका यद्यपि विचित्रवीर्य की विधवाएं है परंतु अपनी सास के आदेश पर कुरु वंश को आगे बढ़ाने के लिए वे महर्षि व्यास से काम-संबंध स्थापित करती हैं और उससे उनको क्रमशः धृतराष्ट्र और पाण्डु की प्राप्ति होती हैं। अंबिका और अंबालिका को सम्राट विचित्रवीर्य का क्षेत्र माना जाता था और इसलिए उनको क्षेत्रज पुत्र कहा जायेगा। नियोग-विधि से उत्पन्न पुत्र पर नियोग हेतु आमंत्रित अज्ञान पुरुष का कोई अधिकार नहीं रहता था। इस विधि से उत्पन्न संतानों को उनके विधिवत् पिताओं की संतान ही माना जाता था, अर्थात् धृतराष्ट्र और पाण्डु विचित्रवीर्य के ही पुत्र माने जायेंगे, न कि व्यास के। महाभारतकालीन इस समाज-व्यवस्था और धर्म-व्यवस्था को समझे बिना उनके पात्रों की यथार्थता को समझना मुश्किल ही होगा।[44]

उपर्युक्त उदाहरणों में चरित्र की सहजता, स्वाभाविकता या कहिये यथार्थता को उसके देशकाल की सापेक्षता में देखा गया है, किन्तु पौराणिक उपन्यासों में कई बार किसी चरित्र की यथार्थता को नवीन मापदण्डों के आधार पर, अर्थात् मनोविश्लेषण के आधार पर भी आंकने का प्रयत्न होता है। सामान्यतौर पर देखा जाए तो रामायण की कैकेयी का चरित्र लोगों को खलनायिका-सा प्रतीत होता है, आम तौर पर लोग उसकी बुराई ही करते है, उसे वितृष्णा की दृष्टि से ही देखते हैं, किन्तु अपने पौराणिक उपन्यास 'अवसर' में डॉ. नरेन्द्र कोहली ने कैकेयी के चरित्र का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणपरक पक्ष प्रस्तुत किया है। यथा –

"मैं वह धरती हूं राम, जिसकी छाती करुणा से कहती है तो शीतल जल उमड़ता है; धृणा से फटती है तो लावा उगलती है। दोनों मिल जाते हैं तो भूचाल आ जाता है! आज मेरी स्थिति भूडोल की है, राम,... मैं इस घर में अपने अनुराग का अनुशरण करते हुए नहीं आई थी। मैं पराजित राजा की ओर से विजयी सम्राट को संधि के लिए दी गई एक भेंट थीं। सम्राट और मेरे वय का भेद आज भी स्पष्ट है। मैं इस पुरुष को पत्नी मान पत्नी की मर्यादा निभाती आई हूं, पर मेरे हृदय से इनके लिए स्नेह का उत्स कभी नहीं फूटा। ये मेरी मांग के सिंदूर तो हुए, अनुराग का सिंदूर कभी नहीं हो पाए। मैं इस

घर में प्रतिहिंसा की आग में जलती, सम्राट से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु से घृणा करती हुई आई थीं। तुम जैसे निर्दोष निष्कलुष और प्यारे बच्चे को अपने महल में घुस आने के अपराध में मैने अपनी दासी से पिटवाया था। ... वह मैं ने तुम्हें नहीं पिटवाया था, मेरी प्रतिहिंसा ने सम्राट के पुत्र को पिटवाकर, सम्राट को पीड़ित कर प्रतिशोध लेना चाहा था। तब मैं तमसे घृणा करती थीं, तुम्हारी मां से घृणा करती थीं, बहन सुमित्रा से घृणा करती थीं। मैं रघुवंशियों से, मानववंश की परंपराओं से ... प्रत्येक वस्तुत से घृणा करती थी।"[45]

कैकेयी के उक्त कथोपकथन के प्रकाश में यदि हम उसके चरित्र पर विचार करें, तो कदाचित् उसके साथ न्याय कर सकते हैं। अपने समय की एक अनिंदनीय सुन्दरी, विश्वसुंदरी, किसीके द्वारा जबरदस्ती हथिया ली गई थी। कैकेयी युवा थी, दशरथ प्रौढ़ थे। फलतः दशरथ को कैकेयी ने मन से कभी नहीं चाहा। उसके वंश की कुल-परंपरा अलग प्रकार की थी, रघुवंशियों के यहां स्त्री को वस्तु ही समझा जाता था, पुरुष के उपभोग की एक चीज-वस्तु मात्र! रघुवंशियों में पितृसत्ताक समाज या पुरुषसत्ताक समाज की प्रधानता थी, जबकि दूसरी और कैकेयी जिस वंश-परंपरा से आयी थीं, वहां मातृसत्ताक समाज की प्रधानता थी। फलतः साम्राज्ञी होते हुए भी एक पल के लिए भी उसने सुख का अनुभव नहीं किया। वह धृणा और प्रतिशोध की आग में निरंतर जलती रही। कालान्तर में उसकी वितृष्णा कुछ कम हुई और शनैः शनैः वह परिस्थितियों के अनुकूल होती जा रही थीं। शम्बर युद्ध के पश्चात् मिले अपने दो वरदानों को भी वह विस्मृत कर गयी थीं और राम को ही अयोध्या का वास्तविक युवराज वह मानने लगी थीं। किन्तु राम के राज्याभिषेक की तैयारियां जब गूपचूप रूप से होने लगीं, उसको इस समूचे समारोह की सूचना जब मंथरा से प्राप्त हुई तब उसकी धृणा का फन फिर से फुफकारने लगा। उस समय कैकेयी राम से कहती है –

"इस राज-प्रासाद में मुझ पर कभी विश्वास नहीं किया गया। मुझे सदा चूड़ैल समझा गया। मेरे भाई को आतंक माना गया। मेरे मायके की परंपराओं को हीन और धृणित कहा गया... मैं बहन कौशल्या और सुमित्रा या अन्य किसी को इसके लिए दोष नहीं देती।

उनसे मेरा सम्बन्ध ही ऐसा था।... वे मुझ पर विश्वास नहीं कर सकती थीं। मुझे और किसी से शिकायत नहीं। शिकायत है अपने इस पति से, जो बलपूर्वक मुझसे विवाह कर मुझे लाया। जिसने अयोग्य होते हुए भी मुझसे सद्भावना चाही और प्राप्त की; किन्तु स्वयं मेरे प्रति घोर दुर्बलता का अनुभव करते हुए भी मुझ पर कभी विश्वास नहीं किया। मैं उसके लिए आकर्षण किन्तु भय की वस्तु रही। उसने मुझे अपने सिंहासन पर तो स्थान दिया, किन्तु हृदय में नहीं।... मैं उस सारे समय के लिए क्या कहूं, राम, जब-जब सुना कि मेरे पति ने कोई काम किया है, कोई निर्णय किया है; किन्तु भयभीत होकर मुझसे छिपाया है। झूठ बोला है। उस झूठ को छिपाने के लिए फिर-फिर झूठ बोला है। अपने ऐसे व्यवहार से उसने अपना आत्मविश्वास खोया है, स्वयं अपने आपको और मुझे बार-बार अपमानित किया है। राम, तुम पुत्र हो, मैं तुम्हें कैसे बताऊं कि हमारी रातें प्यार-मनुहार में कटने के स्थान पर झगड़ों और लानत-मैंमलामत में बीत जाती थीं। बार-बार संकेत करने के बाद भी झगड़े होते रहे, कलह-क्लेश शान्त ही नहीं हुए। पति-पत्नी के इन झगड़ों के दुष्प्रभाव से बचाने के लिए, उसे शांत और स्नेहशील वातावरण देने के लिए, मैं भरत को बार-बार उसके ननिहाल भेजती रही।... और अन्त में मैंने क्या पाया? राम, कल रात ढले मंथरा तुम्हारे राज्याभिषेक का समाचार लाई। मैंने बहुमूल्य मोतियों की माला उसको पुरस्कार में दे डाली। किन्तु उस मुरखा-कुटिला दासी ने वह मेरे मुंह पर दे मारी। किस आधार पर किया उसने यह दुस्साहस?... तुम्हारे पिता के मेरे प्रति अविश्वास के आधार पर। उसने मुझे बताया कि यह गोपनीय निर्णय था। सम्राट को आशंका थी कि कुछ लोग अभिषेक में विघ्न डालेंगे। राम को नष्ट करने के लिए रातोरात उस पर आक्रमण करेंगे। किससे था भय? मुझसे ! मेरे पुत्र से ! मेरे भाई से ! इसलिए मुझे बताया नहीं। भरत को ननिहाल भेज दिया गया। भरत की अधीनस्थ टुकड़ियों को उत्तरी सीमान्त की ओर स्थानांतरित कर दिया। कैकेय के राजदूत की निजी सेना का निःशस्त्रीकरण हुआ।... थुड़ी है मेरी सदभावना पर। मेरे चरित्र के उदात्त स्वरूप पर। यहां कोई मुझे देवी के रूप में नहीं देखना चाहता। सब मुझे चूड़ैल

समझते हैं... मेरे क्रूर रूप को ही सत्य मानते हैं। तो वही हो, राम! वही हो..."[46]

इस प्रकार यथार्थ चरित्रांकन के लिए लेखक आजकल मनो-विश्लेषण का सहारा भी लेने लगे हैं। उपर्युक्त उदाहरण में कैकेयी के यथार्थ चरित्रांकन के लिए लेखक ने उन मनोवैज्ञानिक कारणों की पड़ताल की है जिनके कारण उनका व्यवहार समझ में आ सकता है। उपन्यास में लेखक का दृष्टिकोण मानवतापूर्ण होता है। यहां पर यह नया कथा साहित्य पुराने कथा-साहित्य से अलग पड़ता है। प्रस्तुत उदाहरण में डॉ. नरेन्द्र कोहली ने कैकेयी का चरित्र-चित्रण एक मनुष्य के रूप में किया है, उसकी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ। "वयं रक्षामः" की भूमिका में आचार्य चतुरसेन शास्त्री सही कहते हैं – "इस उपन्यास में प्राग्वेदकालीन नर, नाग, दैत्य, दानव, आर्य, अनार्य आदि विविध नृवंशों के जीवन के विस्मृत पुरातन रेखाचित्र हैं, जिन्हें धर्म के रंगीन शीशे में देखकर सारे संसार ने उन्हें अंतरिक्ष का देवता मान लिया था। मैं इस उपन्यास में उन्हें नर-रूप में आपके समक्ष उपस्थित करने का साहस कर रहा हूं।"[47]

अर्थात् पौराणिक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण इस प्रकार किया जाता है कि चरित्र अपने मानवीय रूप में उभर कर आते हैं, न कि अपने देवत्व के साथ। यथार्थ चरित्रांकन के संदर्भ में एक दूसरा ज्ञातव्य तथ्य यह है कि आजकल पौराणिक उपन्यासों में पात्रों का चरित्र-चित्रण इस तरह होता है कि उसमें हमारे प्रवर्तमान समय के विचार-प्रवाहों का भी प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हो। आधुनिक काल में जो मानवतावादी विचारधारा चली, उसके चलते आज के पौराणिक उपन्यासकार कई पात्रों का चरित्रांकन नये ढंग से करने लगे हैं। यह विचार धारा ही है कि इधर कर्ण, शंबूक, शबरी, सुदामा जैसे पात्रों का चरित्रांकन उनकी विशेषताओं के साथ किया जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पात्रों का यथार्थ चरित्र-चित्रण उपन्यास का एक विशेष अभिलक्षण है और पौराणिक उपन्यासकार को भी उसका निर्वाह तो करना ही पड़ता है।

(5) यथार्थ भाषाशैली :

उपन्यास में यथार्थ भाषाशैली पर विशेष आग्रह रहता है। अन्य साहित्यिक विधाओं में भी यथासंभव यथार्थ भाषाशैली का प्रयोग होता है, किन्तु वहां वह उसकी विधागत आवश्यकता नहीं है। परन्तु अपने सामाजिक सरोकारों के कारण उपन्यास में भाषाशैली की यथार्थता पर विशेष तवज्जो दी जाती है। इसके कारण ही कई बार विषयवस्तु या परिवेश के बदलते ही भाषा का स्वरूप बदल जाता है। शैलेश मटियानी के कुमाऊं की पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यासों में भाषा की आंचलिक छटा दृष्टिगोचर होती है। मटियानी जी के ग्रामीण परिवेश के उपन्यासों में भी 'मुख सरोवर के हंस' की भाषा उनके अन्य उपन्यासों से बिल्कुल अलग पड़ती है। दूसरे उपन्यासों में भी जहां पर रमौलियों की भाषा आती है वहां उसकी छटा कुछ अलग प्रकार की ही दिखाई पड़ती है। नगरीय परिवेश के उपन्यासों में भी बम्बइया-परिवेश के उपन्यासों की भाषा तथा अल्मोड़ा, इलाहाबाद, दिल्ली आदि के परिवेश की भाषा में काफी अंतर दिखाई पड़ता है।

उपन्यास में प्रयुक्त भाषा अनेक-स्तरीय होती है। उनमें लेखकीय भाषा प्रायः सर्वत्र एक जैसी रहती है, परन्तु वहां भी औपन्यासिक प्रवृत्ति तथा देशकाल के हिसाब से यत्किंचित परिवर्तन मिल सकता है। किन्तु उपन्यास में जहां पात्रों की भाषा का प्रयोग होता है, वहां भाषा के, बल्कि कहना चाहिए कि बोली के, कई-कई प्रकार के प्रयोग मिलते हैं।

उपन्यास की भाषाशैली अलग-अलग प्रकार की औपन्यासिक प्रवृत्तियों में भिन्नता लिए हुए रहती है। सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, आंचलिक आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के उपन्यासों की भाषा में भाषाशैलीगत विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। सामाजिक उपन्यासों की भाषा में समसामयिकता का पुट रहता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में उपन्यास जिस काल-खण्ड के होते हैं, उनकी भाषा उसके अनुरूप होती है। फलतः गुप्तयुग की भाषा, मुस्लिम युग की भाषा, मुगल समय की भाषा आदि में हमें भाषाशैली के अलग-अलग रूप मिलेंगे। पौराणिक उपन्यासों की भाषा तो इन सब में विशेष रूप से अलग

पड़ती है। अपनी प्राचीनता और पुरा रूप के कारण। प्राचीन समय में साहित्य की भाषा संस्कृत रही होगी। अब हिन्दी के पौराणिक उपन्यासकार संस्कृत, प्राकृत या पालि भाषा का तो प्रयोग नहीं करेंगे, वे हिन्दी भाषा का ही प्रयोग करेंगे, किन्तु उनकी भाषाशैली में संस्कृतनिष्ठता का प्रयोग अधिकाधिक रूप में देखने को मिल सकता है।

भाषाशैली देशकाल के अनुरूप होती है और उसकी यथार्थता भी देशकाल के ही परिप्रेक्ष्य में देखी जाती है। उदाहरणतया प्राचीन समय में कुलीन वर्ग की स्त्रियां अपने पति को 'आर्यपुत्र' कहती थीं। अतः किसी पौराणिक उपन्यास में सीता, द्रौपदी, कुन्ती, गांधारी आदि नारियों के मुंह से 'आर्यपुत्र' शब्द हमें अस्वाभाविक नहीं लगेगा, किन्तु आज के युग में स्त्री अपने पति के लिए इस प्रकार के सम्बोधन नहीं करती। अभी सौ-डेढ़-सौ वर्ष पूर्व तक स्त्रियां अपने पतियों के नाम नहीं लेती थीं, परंतु आधुनिक नारी अपने पति को उसके नाम से या कई बार उसके 'नीक नेम' से भी बुलाती है। 'मुझे चाँद चाहिए'(सुरेन्द्र वर्मा) की वर्षा-वसिष्ठ एक स्थान पर अपने प्रेमी हर्ष से कहती है – "कुमारी कन्या के नीवि-बंधन को न छेड़ो आर्यपुत्र!"[48] परंतु ये प्रसंग दोनों के हास्यबोध को लेकर है। एन. एस. डी. के छात्र कई बार इस प्रकार की भाषा का प्रयोग-मजाकिया तौर पर करते हैं।

अभिप्राय यह कि उपन्यास में भाषा की यथार्थता पर विचार करते समय देशकाल का मुद्दा हमेशा केन्द्र में रहता है। जो भाषा किसी एक समय के लिए अस्वाभाविक लगती है, वही भाषा देशकाल या परिवेश के बदलते हमें स्वाभाविक वा यथार्थ लग सकती है।

ऊपर जो सैद्धांतिक चर्चा यथार्थ भाषाशैली के संदर्भ में हुई है, उसे ही कुछेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने का यहां हमारा उपक्रम है। शैलेश मटियानी द्वारा प्रणीत 'मुख सरोवर के हंस' लोक गायक शैली में लिखा गया है, अतः उसकी भाषिक-संरचना के तेवर कुछ अलग ही प्रकार के हैं। यहां लेखक ने कुमाऊं प्रदेश के रमौलियों की

शैली का उपयोग किया है। कथा गायक रमौलिया उपन्यास की कथा का प्रारंभ ही इस प्रकार करता है –

"एक समय, काल ने क्या करवट, पवन ने क्या दिशा बदली कि पंचाचुली पर्वतश्रेणी की गुरु-स्थली में पंचनाम देवों को भाइयों की भेंट, केदार की यात्रा हुई। पंचनाम देव कौन? गोल्ल गंगनाथ, भोला, महाबली, हरू और शेमराजा। काली कुमाऊं, काली पछाऊं के पॉच लोक-देवता, पड़ती सन्ध्या, जगती भोर में जिनके नाम की धूपबाती होती है, कि पहली फूलपाती चढ़ती है, कि हम तुम्हारा नाम लेते है। एहो! पंचनाम देवो! कथा कहने को दिवस और, निशा और, कि पहले तुम्हारी सेवा में युगल हाथ नत-माथ करते है, कि ऊंची अटारी, नीची पटारी पर जलता दिया जलता रहे कि रेशम की डोर, मखमली पालने में कुसुमकंठी बालक झुलता रहे कि गहरे सरोवर की नीली लहरों में खिला कमल खिलता रहे, कि हम तुम्हारा नाम लेते हैं। अरु शीतल फुहार पड़ती, नशीली बयार चलती और ठण्डी पनार बहती रहे कि इस कुमाऊं-पछाऊं की धरती फूलों से महकती रहे, कि इस कथा की पावन बेला में हम तुम्हारा नाम लेते हैं! सिर से ढोक देते हैं, पाँव में लोट लेते हैं कि पड़ती सन्ध्या, जगती भोर में जिस गृहिणी ने तुम्हारे नाम का दीपक जलाया और तुम्हारे नाम की फूल-पाती चढ़ाई, उसके गोठ की गैया, गोदी के बालक की उम्र बड़ी करना। जिस घर के स्वामी ने तुम्हारे नाम की पंचमुखी आरती जलाई, सूर्यमुखी शंख बजाया, कांस्य घण्टी हिलाई, दिपबाती जलाई, उसको पट्टी का पटवारी, गांव का मुखिया, जिले का कलकटर बनाना, कि उसका रूतबा उठाना, कुनबा बढ़ाना कि हम तुम्हारा नाम लेते है।"[49]

उपर्युक्त भाषाशैली का उदाहरण कुमाऊं प्रदेश के रमौलियों की भाषा का है। कहना न होगा कि इस प्रकार की भाषाशैली का प्रयोग केवल वही लेखक कर सकता है जो उनके बीच उठा-बैठा हो, जिसने उनके साथ गाय-भैंस-बकरियां चरायी हों, जिसने उनके साथ बीड़ी-सिगरेट पी हों। अभिप्राय यह कि जो लेखक अपनी भूमि को, जमीन को, मिट्टी को बहुत प्यार करता हो, जो उस जीवन में गहरे तक धंसा हुआ हो, जो उसकी एक-एक भंगिमा के वाकिफ़ हो, वही लेखक इस प्रकार की भाषा का प्रयोग कर सकता है।

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY

तो दूसरी तरफ 'बरफ गिर चुकने के बाद' ऐसी कृति है, जिसमें लेखक ने एब्सर्ड भाषाशैली का प्रयोग किया है। उसमें लेखक ने स्त्री-वंचना को भाषा के स्तर पर परिभाषित करने का प्रयत्न किया है, यथा – "आप स्मरण रखें कि बिना प्रेम और भाषा के ही यात्रा पर निकल पड़ना गिद्धों की तरह पंख पसारकर उड़ान लगाने के अलावा और कुछ नहीं। और जैसा कि मैं आप लोगों से पहले भी वह कह चुका हूं कि प्रेम यदि है – भाषा और कला की संभावनाओं के निकट ले जा सकने को पर्याप्त – तो सिर्फ़ वहां एक का चलना भी एक यात्रा हो जाएगा, जहां तक जा सकने की कल्पना मैं करना चाहता हूं। मैं कह नहीं सकता कि आप इस रहस्य को जानते हैं या नहीं कि कल्पना और प्रार्थना, इन्हें अगर आप सिर्फ अपने लिए करना चाहें, ये आपको कभी भी न तो भाषा के निकट ले जाएगी न तो कला के।... क्योंकि यह एक सनातन वास्तविकता है कि कल्पना और प्रार्थना प्रेम के निकट भी तभी ले जाती है, जब ये दूसरों के लिए की गयी हो।"[50]

स्वयं लेखक ने अपने इस उपन्यास की भाषा के संदर्भ में कहा है – "बर्फ गिर चुकने के बाद" मेरे अब तक के लेखन में किंचित् भिन्न और संभवतः इसी कारण से कठिन किस्म की कोशिश है।... न सिर्फ भाषा और संप्रेषण, बल्कि कथा और संवेदना की दृष्टि से भी लिख सकने के अभ्यास का किसी रचना में उपस्थित रहना, इसीलिए उसकी विफलता का परिणाम बन जाता है।"[51]

मटियानीजी के उपन्यास 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई' में हमें बम्बई के उस्तादों, गांजा-चरस वालों तथा भंगेड़ियों की भाषाशैली मिलती है। भाषा की जो यथातथ्य हूबहू नकल उतारी है उससे उनकी श्रवणशक्ति और ग्रहण-शक्ति का परीक्षण हो जाता है। यथा – "बस, और बखिए मत उघाड़ अफीम के चमचम! कसम हाजी मलंगशा की, रह गया तू कबर का कबर में ही। गुरु की भक्ति बेकार गई। यह तो वही मिसल हुई, बेटे, कि बारह बरस दिल्ली में रहे, क्या किया, भाड़ झोंका! सुन पोपट, असील में तिरिया के चार नहीं, सिर्फ दो ही बड़े भेद होते हैं!... सुन, इस बम्बई में, जहां न फुटपाथियों को चैन है, न महलों को ही आराम। तिरिया के सिर्फ दो भेद होते हैं – सेठानी और

घाटन! ... पर हाथीदांत का बटन दिखाने से, हाथी को तू क्या समझेगा? तुझे तो बारीकी से समझाना पड़ेगा। सुन, तिरिया के जो दो भेद मैंने देखे-सुने। एक दिलचस्प किस्से के रूप में तुझे सुनाता हूं। बेटे, उस्ताद से मोहब्बत की ये बेजोड़ दास्तां, इसके – कामरानी का यह लाजवाब किस्सा सुन, सुन कलन्दर, देसाई भुवन सातवां माला, कालबादेवी, बम्बई नंबर-2 के शानदार फ्लेट में रहने वाली सेठानी नर्मदाबेन और गांव पिंचखोली, पोस्ट-तालुका रैंसी, जिल्हा सतारा, हाल-मुकाम भकमजी-बमनजी का चाल, खोली नंबर पंधरा, भुलेश्वर बम्बई नंबर-2 की गंगूभाई का ये किस्सा है।... पहली के पास दिल था, दिलदार थे, दौलत थी, दौलत के नशे में उसने दिल भी गंवाया, दिलदार भी।... दूसरी के पास सिर्फ दिल था, जिसे दांव पर लगाकर, दिलदार और कलदार बटोर ने के कई सुनहरे मौके उसके सामने आए, पर उसने "एक आणे ला दोन; दोन आणे ला तीन" केले तो बेचे, दिल न बेच सकी।"[52]

अब भाषाशैली का एक उदाहरण जगदम्बाप्रसाद दीक्षित के उपन्यास 'मुर्दाघर' से देखिए जो मुंबई की झोंपड़पट्टी के वातावरण पर आधारित है – "मैना को... गम नहीं... खुशी नहीं। खम्भे से टिकी बैठी रहेगी पथ्थर की तरह। आए कोई... न आए। काय वास्ते धन्दा? पोपट की गांड में भरने के वास्ते,... तेरा कभी भला नई होएंगा... साला... वही काला धुआं... वही ढिबरी... सिके कबाब की बू... पकोड़ों से चूता हुआ तेल। फिर वही पाईप... वही... गिलास... वही शराब... वही आदमी... वही नशा... वही गालियां न मालूम के नाम! ऐंठी हुई जुबान... डूबती हुई आवाज़... त् त् त् तेरी मां की... त् त् त् तेरी भैन की ... क् क् क् क्या समझा तू। म् म् म् मैं कुछ नहीं समझता तेरे को... न् न् न् नहीं मिलता... म् म् म् मत मिल्... म् म् म् मादरचोद... भ् भ् भ् भैनचोद..."[53]

उपर्युक्त कथोपकथन मैना नामक वेश्या का है। पोपट उसे कई प्रकार के ख्वाब दिखा कर लाया था पर अब उससे धन्धा करवा कर उसकी कमाई पर ऐश कर रहा है। जुए और शराब में मैना की कमाई उड़ा रहा है। मैना द्वारा प्रयुक्त भाषा में गालियों की भरमार है, जो इस प्रकार के माहौल में स्वाभाविक है। हलन्त अक्षरों का तथा

'........' का प्रयोग मैना की शराबनोशी के कारण है। वह देशी दारू के नशे में धूत है। ऐसे में इस प्रकार की भाषा ही हो सकती है।

इस प्रकार मटियानीजी तथा अन्य कई लेखकों में हमें यथार्थ भाषाशैली के अनगिनत उदाहरण मिल सकते हैं, किन्तु हमारा शोध-प्रबंध पौराणिक उपन्यासों से सम्बद्ध है, अतः यथार्थ भाषाशैली के कुछेक उदाहरण पौराणिक उपन्यासों से भी यहां प्रस्तुत हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'वयं रक्षामः' में विश्रवा मुनि के पुत्र पौलस्त्य रावण को नारद संकेत देते हैं कि उसे आर्यावर्त में अधिक समय नष्ट न करते हुए अपवर्त जाकर यम, वरुण, देवराज इन्द्र आदि को पराजित करना चाहिए। अतः वह उसके लिए तत्पर होकर चल पड़ता है। तत्कालीन भाषाशैली के उदाहरण के लिए वहां से एक उदाहरण प्रस्तुत है –

"चलते-चलते राक्षसों की यह चतुरंग चूम 'आर्यवीर्यवान्' क्षेत्र में आ पहुंची, जहां इन्द्रसखा मरूत् संवर्त ब्रह्मर्षि के नेतृत्व में यज्ञ कर रहे थे। मरूतों के इस यज्ञ में देवेन्द्र सहित सभी देवता उपस्थित थे। दुर्जय रावण परशु कन्धे पर रख कर निर्भय एकाकी ही यज्ञ-भूमि में जा धमका और बोला, "मैं सप्तद्वीपों का अधीश्वर पौलस्त्य रावण हूं। नृवंश में एक वैदिक रक्ष-संस्कृति की स्थापना करने के लिए मैंने सार्वभौम अभियान किया है। अब जो मेरी रक्ष-संस्कृति को स्वीकार करता है उसे अभय; जो नहीं स्वीकार करता है उसके मस्तक पर मेरा यह परशु है।"[54]

यहां प्रयुक्त भाषा देशकाल के अनुरूप है। इसमें रावण ने रक्ष-संस्कृति की भी बात कही है। यह रक्ष-संस्कृति आर्य-संस्कृत से भिन्न थी। रक्ष-संस्कृति में यज्ञों का विरोध होता था, क्योंकि यज्ञ के बहाने अनेक अकरणीय कार्य भी होते थे।

डॉ. नरेन्द्र कोहली का पौराणिक उपन्यास 'दीक्षा' रामायण की कथावस्तु पर आधारित है। प्रस्तुत उपन्यास में महर्षि विश्वामित्र अयोध्या-नरेश दशरथ के प्रति जो अपना पुण्य-प्रकोप व्यक्त करते हैं, उसे यहां उदाहरण-स्वरूप दे रहे हैं –

"दशरथ, वीर तो मैं तुम्हें मानता ही नहीं था, किन्तु आज तुम ये सिद्ध करना चाहते हो कि तुम अपने वचन की रक्षा भी नहीं कर सकते। तुम वचन देकर पैर पीछे हटा दोगे, इसकी आशा मुझे नहीं थी। तुम वचन देने को इतने आतुर क्यों रहते हो? तुम्हारा नाश बिना सोचे-समझे वचन दे देने की इसी आतुरता से होगा। दशरथ, आज सारे आर्यावर्त में जो चर्चा हो रही है, वह गलत नहीं है। तुम जानते हो कि जितने भी ऋषि-मुनि, चिंतक-बुद्धिजीवी, सत्य और न्याय की रक्षा के लिए रघुवंशियों की ओर देखा करते थे, उन सबको तुमने अपने आचरण से हताश कर डाला है। आज कोई भी व्यक्ति तुमसे न्याय के नाम पर कोई अपेक्षा नहीं रखता। यह मेरी ही मूर्खता थी कि मैं तुमसे इतनी बड़ी आशा लेकर आया कि तुम अन्याय और अत्याचार का विरोध करोगे। लोग कहते हैं, दशरथ का राज्य उसके अपने प्रासादों के भीतर भी शायद नहीं है, वहां कैकेयी का राज्य है।... आज मुझे कह लेने दो, दशरथ, ये सारी बातें मैं कहना नहीं चाहता था, पर तुमने मुझे कहने को बाध्य किया है, तो सुनो! हम बुद्धिजीवियों ने अनासक्त होकर तुम्हें शासन सौंप दिया, तो तुम सत्ताधारी यह समझते हो कि सामान्य प्रजा तुम्हारे भोग के साधन जुटाने का माध्यम मात्र है। तुम समझते हो, प्रजा मात्र कीट-पतंग है, पर दशरथ, आज मैं तुम्हें बताने आया हूं कि हमारी रक्षा कर, तुम हम पर कोई कृपा नहीं करते। वह तुम्हारा कर्तव्य है। आज तुम उससे विमुख हो रहे हो, तो मैं कुशिकनंदन विश्वामित्र तुम्हारे सामने स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि हम अनासक्त बुद्धिजीवियों में तुम्हारे जैसे अनेक शासकों की निर्माण क्षमता है। मैं किसी भी स्वस्थ क्षत्रिय को दिव्यास्त्रों का ज्ञान देकर सम्राट दशरथ बना सकता हूं। मैं प्रतिज्ञा करता हूं..."[55]

एक दूसरा उदाहरण डॉ. कोहली के ही महाभारत पर आधारित 'बंधन' उपन्यास से यहां दिया जा रहा है। हस्तिनापुर सम्राट शान्तनु और सत्यवती के विवाह से उत्पन्न चित्रांगद और विचित्रवीर्य की असमय मृत्यु हो जाती है। तब माता सत्यवती के पास और कोई चारा नहीं रहता। अतः वह भीष्म से निवेदन करती है कि विचित्रवीर्य की दो रानियों – अंबिका और अंबालिका – के साथ

शरीर-सम्बन्ध जोड़कर हस्तिनापुर के राजसिंहासन के उत्तराधिकारी के लिए पुत्र उत्पन्न करें। परंतु भीष्म ने तो आजीवन अविवाहित रहने का प्रण लिया हुआ था। अतः वे इस स्थिति से बचने के लिए माता सत्यवती को 'नियोग' के विधान की बात करते हैं। यथा – "माता! धर्मतः ऐसी परिस्थिति में नियोग का विधान है। आप किसी गुणी, विद्वान और सदाचारी ब्राह्मण को संतानोत्पत्ति के लिए नियुक्त करें। वह विचित्रवीर्य के क्षेत्र से उसके उत्तराधिकारी को उत्पन्न करें।"[56]

इस पर सत्यवती कहती हैं कि यदि मैं तुम्हें ही नियुक्त करूं तो? माता सत्यवती की इस बात को लेकर भीष्म कहते हैं – "माता, इस प्रकार बार-बार मेरी परीक्षा मत लो। अंततः मैं भी एक मनुष्य ही हूं। मानवीय दुर्बलताएं मुझमें भी हैं; और अभी वे पूर्णतः मरी नहीं है। ऐसा न हो कि मेरी भी कामेच्छा जाग उठे... यदि आप ऐसा कुछ करेंगीं तो विचित्रवीर्य की नहीं, भीष्म की संतान सिंहासन पर बैठेगी। ... हमें ऐसा प्रयत्न करना है कि शासनाधिकार विचित्रवीर्य की ही संतान का रहे ... और भीष्म सत्य से स्खलित न हो। ... नियोग के लिए पुरुष अज्ञात होना चाहिए। यथासंभव वह उस नारी के संपर्क में पुनः न आए। उसके मन में राग न हो, केवल धर्म हो... । इसके विरूद्ध कुछ भी होगा तो धर्म की रक्षा नहीं हो पाएगी माता।"[57]

उपर्युक्त उदाहरण में 'नियोग', 'क्षेत्र', 'शासनाधिकार', 'नियुक्त पुरुष' आदि शब्दों का प्रयोग तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिवेश पर प्रकाश डालते हैं। अतएव इस प्रकार की शब्दावली से भाषाशैली में पर्याप्त यथार्थता का समावेश हुआ है।

इसी उपक्रम में डॉ. भगवानसिंह द्वारा प्रणीत उपन्यास 'अपने अपने राम' से एक उदाहरण हम प्रस्तुत करते हैं। उपन्यास के अंत भाग में एक प्रसंग आता है जिसमें शंबूक अपने गुरु अगस्त्य के साथ किसी सम्मेलन में गये थे। वहां शंबूक की जाति को लेकर कुछ अप्रिय चर्चा होने लगती है तब अपना और अपने गुरु का इस प्रकार अनादर होता देख शंबूक अपने को संभाल न सका और क्रोध में आकर कहता है – "किस कुल-शील की बात करते हो वासिष्ठ।

मुझे यह तो पता है कि मैं शूद्र जात हूं, यहां उपस्थित ऋषियों में बहुतों को अपने पितृत्व तक का ज्ञान न होगा। अपनी स्वच्छंदता के कारण किसी भी वर्ण और जाति को तो छोड़ते नहीं आप लोग और आप ही से शिक्षा लेकर आपकी पत्नियां जब कुछ करने लगती है तो आप लोग 'गुरुतल्पगामिता' का भय दिखाकर उन्हें उसी तरह डराने का प्रयत्न करते हैं जैसे किसान धोखे खड़े करके फसल को जानवरों और पक्षियों से बचाने का प्रयत्न करता है, पर कुछ लाभ होता है क्या? सुनो वासिष्ठ, इस समाज में या तो कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय वैश्य या शूद्र है नहीं, या सभी ब्राह्मण हो चुके हैं। यदि वर्ण का अनुराग सता ही रहा हो तो श्रेष्ठ ब्राह्मण तो अब्राह्मणों में ही मिलेंगे। वृक्ष की प्रकृति तो बीज से निर्धारित होती है, क्षेत्र से नहीं। आप तो क्षेत्रज ब्राह्मण है।"[58]

उपर्युक्त पौराणिक उपन्यासों के उद्धरणों से इतना तो स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि यथार्थ भाषाशैली की दृष्टि से लेखक प्रायः यहां तत्समबहुला भाषा का प्रयोग करता है। समसामयिक या वर्तमान दृष्टि से विचार करें तो किसीको यह भाषा अस्वाभाविक या कृत्रिम भी लग सकती है, परन्तु यदि इस भाषा को हम उसके परिवेश की पृष्ठभूमि में देखें तो वह शतशः स्वाभाविक प्रतीत होगी।

हिन्दी की औपन्यासिक प्रवृत्तियों में पौराणिक उपन्यासों का स्थान:

पूर्ववर्ती पृष्ठों में निरूपित किया गया है कि भारतीय भाषाओं में उपन्यास विधा का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाता है। बांगला उपन्यास 'आलालेर घरेर दुलाल', मराठी उपन्यास 'यमुनापर्यटन', गुजराती उपन्यास 'करणघेलो' के पश्चात् हिन्दी उपन्यास 'भाग्यवती' सन् 1878 में प्राप्त होता है। अभिप्राय यह कि उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में हमें हिन्दी भाषा में 'उपन्यास' जैसी विधा प्राप्त होती है। इस प्रकार हिन्दी उपन्यास की आयु अभी सवा सौ साल की ही हुई है। इन सवा सौ वर्षों में हमें कई प्रकार की औपन्यासिक प्रवृत्तियां उपलब्ध होती हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने अपनी सुविधा के लिए हिन्दी उपन्यास की इस

विकास-यात्रा को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत विभाजित किया है – (क) पूर्व-प्रेमचंदकाल (सन् 1878-1918), (ख) प्रेमचंदकाल (सन् 1918-1936) और (ग) प्रेमचंदोत्तरकाल (सन् 1936-अद्यावधि)। प्रेमचन्दोत्तरकाल को इतिहासकारों ने पुनः स्वाधीनता-पूर्वकाल (1936-1947), स्वातंत्र्योत्तरकाल (1947-60), साठोत्तरी उपन्यास (1960-1985) तथा समकालीन उपन्यास (1985-अद्यावधि) आदि विभागों में रखा है।

उपर्युक्त हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा के विभिन्न सोपानों में हमें कई औपन्यासिक प्रवृत्तियां प्राप्त होती हैं। इनमें से कुछेक औपन्यासिक प्रवृत्तियां प्रारंभ से लेकर अद्यावधि उपलब्ध हो रही है तो कुछेक प्रवृत्तियों का उल्लेख प्रारंभ से लेकर अद्यावधि उपलब्ध हो रही है, तो कुछेक का समावेश बीच में या मध्यान्तर में हुआ है। उल्लेख प्रारंभ में तो हुआ है, परन्तु बाद में उनका उल्लेख हमें मिलता नहीं है।

पूर्व प्रेमचंदकाल की औपन्यासिक प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करें तो उसमें हमें निम्नलिखित औपन्यासिक प्रवृत्तियां उपलब्ध होती हैं : (1) सामाजिक उपन्यास, (2) ऐतिहासिक उपन्यास, (3) तिलस्मी उपन्यास, (4) जासूसी उपन्यास और (5) अनूदित उपन्यास।

उपर्युक्त औपन्यासिक प्रवृत्तियों में सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास का उल्लेख तो परवर्ती कालों में भी हुआ है; किन्तु तिलस्मी उपन्यास, जासूसी उपन्यास और अनुदित उपन्यासों का उल्लेख परवर्तीकालों में नहीं हुआ है। इसका अर्थ यह कतई नहीं कि इस प्रकार के उपन्यास बाद में लिखे ही नहीं गये। बल्कि आज भी ऐसे उपन्यास मिलते हैं। तो उनके अनुल्लेख का कारण क्या होगा? वस्तुतः आलोचकों ने तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों को स्तरीय और साहित्यिक नहीं माना है। प्रारंभ में 'उपन्यास' विधा नयी थी, अतः इनकी लोकप्रियता को ध्यान में रखकर आलोचकों ने औपन्यासिक प्रवृत्तियों में उनको स्थान दिया था, किन्तु जब उपन्यास का समुचित और सम्यक् विकास हुआ, तब फिर उसकी उपादेयता नहीं रही।

अनूदित उपन्यास स्तरीय और साहित्यिक होते है, किन्तु परवर्ती औपन्यासिक प्रवृत्तियों में उसे भी परिगणित नहीं किया गया क्योंकि वस्तुतः ये उपन्यास उस मूल भाषा की धरोहर समझे जाते है जिनमें प्रथमतः ये लिखे गये हैं। हिन्दी उपन्यास के प्रारंभिक काल में हिन्दी उपन्यास की दशा और दिशा निर्धारित करने में इन उपन्यासों की महत्तम भूमिका रही है, किन्तु जब हिन्दी उपन्यास अपने बलबूते पर आगे विकसित हुआ तब उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी गई।

पूर्व-प्रेमचंदकाल के उपरान्त प्रेमचंदकाल आता है। प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव प्रदान किया। अतः हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा में प्रेमचंद का स्थान मेरूदण्ड के समान माना जाता है। मानव-चरित्र की पहचान भी हमें प्रेमचंद जी से सर्वप्रथम उपलब्ध होती है।[59] वस्तुतः सचमुच के सामाजिक उपन्यासों का प्रारंभ बहुत-से आलोचक प्रेमचंद से मानते हैं, ठीक जैसे ऐतिहासिक (सचमुच के वास्तविक) उपन्यासों का सूत्रपात उपन्यास साहित्य के इतिहासकार सर्वश्री वृन्दावनलाल वर्मा को मानते हैं।[60]

इस प्रकार प्रेमचंदकाल की मुख्य औपन्यासिक प्रवृत्तियों में दो प्रवृत्तियां मुख्यरूप से समाविष्ट होती हैं – सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास। परंतु परवर्ती काल की बहुत-सी औपन्यासिक प्रवृत्तियों का उत्स हमें प्रेमचंदकाल में ही मिलने लगता है। जिनमें मनोवैज्ञानिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास और समाजावादी उपन्यास आदि की गणना कर सकते है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य के आलोचकों का एक वर्ग प्रेमचंद-प्रणीत 'प्रेमाश्रम' को हिन्दी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास मानता है; तो दूसरी और जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी द्वारा मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात भी हो गया था। इस कालखण्ड में जैनेन्द्र के 'परख' और 'सुनीता जैसे बगुचर्चित उपन्यास आ चुके थे। समाजवादी या मार्क्सवादी उपन्यास के रूप में हमें प्रेमचंद की औपन्यासिक कला का सर्वोत्तम शिखर 'गोदान' प्राप्त होता है। यद्यपि यह सच है कि उक्त औपन्यासिक प्रवृत्तियों का समीचीन विकास परवर्ती कालों में हुआ है।

प्रेमचंद काल के उल्लेखनीय उपन्यासों में 'निर्मला', 'ग़बन', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गोदान' (प्रेमचंदजी); 'परख', 'सुनिता' (जैनेन्द्र); 'मां', 'भिखारिणी' (विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक"); 'घण्टा', 'बुधुआ की बेटी' (उग्रजी); 'कंकाल' (प्रसाद); 'गोद', 'अंतिम आकांक्षा' (सियारामशरण गुप्त); 'अप्सरा', 'अलका', 'निरूपमा' (निराला); 'गढ़कुण्डार', 'विराटा की पद्ममिनी' (वृन्दावनलाल वर्मा); 'चित्रलेखा' (भगवतीचरण वर्मा); 'खवास का ब्याह', 'हृदय की प्यास' (आचार्य चतुरसेन शास्त्री); 'त्यागमयी', 'पतिता की साधना' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी) प्रभृति की परिगणना कर सकते हैं।[61]

प्रेमचन्दोत्तरकाल में हमें अनेकानेक औपन्यासिक प्रवृत्तियां उपलब्ध होती हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं – (1) सामाजिक उपन्यास, (2) ऐतिहासिक उपन्यास, (3) मनोवैज्ञानिक उपन्यास, (4) समाजवादी उपन्यास, (5) राजनीतिक उपन्यास, (6) आंचलिक उपन्यास, (7) पौराणिक उपन्यास, (8) साठोत्तरी उपन्यास और (9) समकालीन उपन्यास।

इनमें से अंतिम दो प्रवृतियों का सम्बन्ध काल-विषयक विभावना से भी है। सन् 1960 से 1985 तक के उपन्यास 'साठोत्तरी उपन्यास' कहलाते हैं। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साठोत्तरी उपन्यास सन् साठ के बाद का तो होगा, पर साठ के बाद का कोई भी उपन्यास 'साठोत्तरी उपन्यास' की संज्ञा प्राप्त नहीं करेगा। केवल वही उपन्यास 'साठोत्तरी' माना जाएगा जिसमें साठोत्तरी मानसिकता और चेतना होगी।[62] ठीक यही बात 'समकालीन उपन्यास' के संदर्भ में कही जा सकती है। इन दो प्रवृत्तियों की चर्चा हम बाद में यथास्थान करेंगे। फिलहाल प्रेमचन्दोत्तर काल (सन् 1936-1960) के प्रमुख उल्लेखनीय उपन्यासों की सूची-मात्र प्रस्तुत कर रहे हैं –

'फागुन के दिन चार' (उग्रजी); 'आखिरी दांव', 'भूले बिसरे चित्र' (भगवतीचरण वर्मा); 'गिरती दीवारें', 'गर्म राख' (अश्क़जी); 'लोहे के पंख' (हिमांशु श्रीवास्तव); 'धर्मपुत्र', 'बगुला के पंख'

(आचार्य चतुरसेन शास्त्री); 'अचल मेरा कोई' (वृन्दावनलाल वर्मा); 'जूनिया' (गोविन्द-वल्लभ पंत); 'चोटी की पकड़', 'बिल्लेसुर बकरिहा' (निरालाजी) 'वचन का मोल', 'जीवन की मुस्कान' (उषादेवी मित्रा); 'निशिकान्त', 'तट के बंधन' (विष्णु प्रभाकर); 'राम-रहीम', 'गांधी टोपी' (राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह) आदि-आदि (सामाजिक उपन्यास); 'झांसी की रानी', 'मृगनयनी', 'अहिल्याबाई' (वृन्दावनलाल वर्मा), 'वैशाली की नगरवधू', 'सोमनाथ', 'सोना और खून' (आचार्य चतुरसेन शास्त्री), 'बाण भट्ट की आत्मकथा', (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'सिंह सेनापति', 'जय यौद्वेय' (राहुल सांकृत्यायन), 'दिव्या', 'अमिता' (यशपाल), 'शतरंज के मोहरे' (अमृतलाल नागर), 'बहती गंगा' (शिवप्रसाद मिश्र), 'बेकसी का मजार' (प्रतापनारायण श्रीवास्तव), 'सामन्त बीजगुप्त' (प्रतापनारायण श्रीवास्तव), 'सामन्त बीजगुप्त' (बनकाम सुनील) [ऐतिहासिक उपन्यास]; 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'जयवर्द्धन' (जैनेन्द्र), 'प्रेत और छाया', 'पर्दे की रानी', 'जहाज का पंछी' (इलाचन्द्र जोशी), 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय), 'बाहर-भीतर', 'अजय की डायरी' (डॉ. देवराज), 'सोया हुआ जल' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'कुलटा', 'सारा आकाश' (राजेन्द्र यादव), 'गुनाहों का देवता' (धर्मवीर भारती), 'डूबते मस्तूल' (नरेश मेहता), 'ततुजाल' (डॉ. रघुवंश), 'चाँदनी के खण्डहर' (गिरधर गोपाल) [मनोवैज्ञानिक उपन्यास]; 'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप', 'झूठा सच' (यशपाल), 'हुजूर', 'घरौंदे', 'विषादमठ' (डॉ. रांगेय राघव), 'मशाल', 'सत्ती मैया का चौरा' (भैरवप्रसाद गुप्त), 'बीज', 'नागफनी का देश', 'हाथीदांत' (अमृतराय), 'बया का घोंसला और सांप' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'उखडे हुए लोग', 'कुलटा', 'शह और मात', 'सारा आकाश' (राजेन्द्र यादव), 'खाली कुर्सी की आत्मा' (लक्ष्मीकांत वर्मा), 'सूरज का सातवां घोड़ा' (धर्मवीर भारती) [समाजवादी-मार्क्सवादी उपन्यास]; 'मैला आँचल', 'परतीः परिकथा' (फणीश्वरनाथ रेणु), 'वरुण के बेटे' (नागार्जुन), 'हौलदार', 'चट्ठीरसैन', 'चौथी मुट्ठी', 'मुख सरोवर के हंस' (शैलेश मटियानी), 'जंगल के फूल' (राजेन्द्र अवस्थी), 'कब तक पुकारुं' (रांगेय राघव),

'सागर लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट), 'रथ के पहिये' (देवेन्द्र सत्यार्थी) [आंचलिक उपन्यास]; 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (भगवती-चरण वर्मा), 'झूठा सच' (यशपाल), 'एक पंखुड़ी की तेज़ धार' शमशेरसिंह नरूला [राजनीतिक उपन्यास]।[63]

ऊपर जिन उपन्यासों का उल्लेख किया गया है उनके संदर्भ में कुछेक बातें ध्यानार्ह है। छोटे कोष्ठक में लेखकों के नाम दिए गए हैं और बड़े कोष्ठक में औपन्यासिक प्रवृत्तियों के नाम बताए गए हैं। दूसरी एक ज्ञातव्य बात यह है कि उपन्यास के ये प्रकार 'वाटर टाईप कम्पार्टमेन्ट' नहीं है। एक ही साथ एक उपन्यास एकाधिक कैटेगरी में भी आ सकता है। तीसरी बात यह है कि समाजवादी उपन्यास भी होते तो सामाजिक ही हैं, किन्तु उनमें मार्क्सवादी-दृष्टि केन्द्र में रहती है; ठीक उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी सामाजिक उपन्यास ही होते हैं, परंतु वहां सामाजिक या बाह्य यथार्थ के स्थान पर आंतरिक वा चैतसिक यथार्थ को प्राधान्य दिया जाता है। सामाजिक उपन्यासों में जहां सामाजिक समस्याओं को तरजीह दी जाती है, वहां मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में तरजीह मनोवैज्ञानिक समस्याओं को दी जाती है।

हमारा आलोच्य विषय पौराणिक उपन्यासों के संदर्भ में है और पौराणिक उपन्यासों की प्रवृत्ति प्रेमचन्दोत्तर काल में शुरू तो हो गई थी। परंतु उसका समुचित विकास तो सन् 1960 के बाद ही हुआ। सन् साठ के बाद हमें 'साठोत्तरी' और समकालीन उपन्यास प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त औपन्यासिक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध प्रायः उसकी कथावस्तु से है। पौराणिक उपन्यास का सम्बन्ध भी कथावस्तु से ही है। ऐतिहासिक उपन्यास ऐतिहासिक वृतान्त पर आधारित होते हैं, ठीक उसी तरह पौराणिक उपन्यास पौराणिक वृतान्त पर आधृत होते हैं।

'साठोत्तरी' और 'समकालीन' उपन्यास उपर्युक्त सामाजिक, ऐतिहासिक, आंचलिक, समाजवादी, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक आदि ही होते हैं; परंतु उनमें काल-विषयक विभावना भी जुड़ी हुई है। 'साठोत्तरी' शब्द हिन्दी आलोचना में प्रायः रूढ़ हो गया है। साठोत्तरी

कविता, साठोत्तरी कहानी, साठोत्तरी नाटक आदि की चर्चा पिछले चालीस-पचास वर्षों में होती रही है। मोटे तौर पर साठ के बाद की रचना के लिए 'साठोत्तरी' शब्द का प्रयोग होता रहा है। यहां एक प्रश्न यह भी होता है कि साठ के वर्ष को ही क्यों चुना गया? साठ के बाद ऐसा क्या आमूलचूल परिवर्तन आया कि हिन्दी आलोचना में यह शब्द रूढ़ हो गया? इसका सीधा उत्तर यह है कि सन् 1947 में हम स्वतंत्र हुए । आज़ादी से भारतीय जनता को बहुत-सी अपेक्षाएं थीं। दश-बारह साल प्रतीक्षा में व्यतीत हो गये, परतुं जब उसके बाद भी हमारी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों में कोई विशेष बदलाव नहीं आया तब साहित्यकारों, कलाकारों, चिन्तकों के सामने मोहभंग की स्थिति का निर्माण हुआ। साठोत्तरी साहित्य प्रमुखतया इस मोहभंग की छवि का साहित्य हैं। डा. रामधारीसिंह दिनकर ने 'अटका कहां स्वराज?' में इस मोहभंग की स्थिति को उकेरा है; तो माखनलाल चतुर्वेदी ने अपने व्यंग्यात्म्क लहजे में कहा – "उनकी यादों के तरु-तृण-पल्लव लो अब तो हम छोड़ चले / कस्में रावि के तट खायी, यमुना के तट पर तोड़ चले।"[64] यहाँ 'उनकी यादों' से तात्पर्य महात्मा गांधी की यादों से हैं। गांधीवादी विचारधारा को हमारे राजनेता कैसे क्रमशः विस्मृत करते गये हैं उसे कवि ने यहाँ रेखांकित किया है। 'रावी का तट' और 'यमुना का तट' दो ऐतिहसिक प्रसंगों का संकेत देते है। इनका प्रतीकात्मक ढंग से उपयोग हुआ है। सन् 1929 में रावी के तट पर स्थित लाहौर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था उसके प्रमुख थे युवक-सम्राट पंडित जवाहरलाल नेहरु। उन्होंने अपने अध्यक्षीय व्याख्यान में भारत की स्वतंत्रता के बाद के नक्शे को स्पष्ट किया था और लोगों को अनेक सब्ज-बाग़ दिखाए थे; परंतु वे ही पंडित नेहरु आज़ादी के बाद प्रधानमंत्री होकर जब यमुना के तट पर स्थित दिल्ली में आ गये तो उन्होंने बहुत–सी बातों को भूला दिया और आज़ादी के पहले जो कहा गया था बरअक्स उसका विपरीत हुआ। नहेरू अनेक मोर्चों पर असफल रहे। उनकी कश्मीर-विषयक भूल का भुगतान हम आज भी कर रहे हैं। उनका 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा भी छलावा साबित होता है। जब सन् 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण करके नेहरू के

विश्वास की छाती पर खंजर भोंक दिया तब कदाचित् इसी आघात में नेहरू को भी तोड़ दिया था और इसी सबब सन् 1964 में उनका निधन हो गया। उपेन्द्रनाथ अश्क़ के लघु-उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आंखें' में नेहरू-गांधीवाद की असफलता को बड़ी खूबी से उकेरा गया है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की व्यंग्यात्मक कविता 'पंच-महाभूत' में भी आज़ादी के बाद की मोहभंग की स्थिति को व्यंग्यात्मक तेवरों के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस रचना में कवि ने महात्मा गांधी की पाँच चीजों को लेकर उनकी विचारधारा का क्या हश्र हुआ यह बताया है। यथा –

"तुम्हारे चश्मे?
उन्हीं को पहनाकर अंधों को दिखाए जा रहे हैं करिश्मे,
तुम्हारी घड़ी?
देश की नब्ज़ की तरह बन्द है
तुम्हारी लाठी?
पुलिस के हाथ का डण्डा बनकर लोगों के पीठ की धुलाई कर रही है
तुम्हारी धोती?
राष्ट्रीय समारोहों पर स्वयंसेवकों के बिल्ले बनाने के काम आ गयी
और तुम्हारी चप्पल?
गरीबी की चाँद गंजी कर रही है
अच्छा हुआ हे जननायक ! तुम चले गये,
वरना तुम्हारे शरीर का ये क्या करते कुछ कह नहीं सकते।"[65]

तो 'संसद से सड़क तक' में धूमिल कहते हैं –

"एक हाथ रोटी कमा रहा है
दूसरा हाथ रोटी सेंक रहा है
पर है एक तीसरा हाथ जो रोटी छीन रहा है
ये तीसरा हाथ कौन है?
देश की संसद मौन है !"[66]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि साठोत्तरी कविता में एक प्रकार की व्यंग्यात्मकता, व्यंजकता, वेधकता है जो स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग की मुद्रा को सशक्त मुहावरे के साथ रूपायित करती है। यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साठोत्तरी रचना साठ के बाद की अवश्य होगी, किन्तु साठ के बाद की कोई भी रचना 'साठोत्तरी' संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकती। कोई रचना साठोत्तरी तभी कही जायेगी जब उसमें साठोत्तरी मानसिकता और चेतना विद्यमान हो। उदाहरणतया यदि कोई लेखक या कवि अपनी किसी रचना-विशेष में सामंतकालीन प्रगति विरोधी मूल्यों का आलेखन करता है, तो साठ के बाद की होने के बावजूद भी उस रचना को साठोत्तरी नहीं कहा जायेगा। पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष प्रोफेसर पारूकान्त देसाई साहब का तो शोधकार्य ही साठोत्तरी उपन्यासों पर था। उन्होंने साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों की कतिपय विशेषताओं को उकेरते हुए उनमें निम्नलिखित अभिलक्षणों को आवश्यक माना है – (1) मोहभंग की मुद्रा, (2) यथार्थधर्मिता, (3) आधुनिक भावबोध, (4) कलागत सूक्ष्मता, (5) अरोमानी दृष्टिकोण, (6) कलागत निरपेक्षता, (7) अजनबीपन का भाव और अस्तित्ववादी प्रभाव, (8) प्रयोगधर्मिता, (9) व्यंग्यात्मकता, (10) नवीन भाषिक-संरचना, (11) अनालोचनात्मक दृष्टिकोण, (12) अनासन्न लेखकत्व आदि-आदि।[67]

अभिप्राय यह कि उपर्युक्त विशेषताओं से संयुक्त साठ के बाद की रचना ही साठोत्तरी कही जा सकती है। यहां एक अन्य आयाम भी विचारणीय है। जब साठोत्तरी साहित्य की विभावना हिन्दी में आयी और रूढ़ हुई तो उसका 'प्रस्थान-बिंदु' तो निश्चित था, पर 'इत्यात्मक-बिंदु' नहीं था। अब इधर जब हिन्दी उपन्यास साहित्य ने अपनी यात्रा जारी रखी है तो इस इत्यात्मक-बिंदु पर भी विचार होना चाहिए क्योंकि बहुत-से विद्वान और अनुसंधित्सु जब साठोत्तरी साहित्य पर काम करते हैं तो उसको वे अपने समय तक खीच ले जाते हैं जो समुचित नहीं है। समकालीन साहित्य 'की विभावना के आते ही 'साठोत्तरी' साहित्य का इत्यात्मक-बिंदु निश्चित हो गया है।

प्रमुख उल्लेख्य साठोत्तरी उपन्यासों में 'जल टूटता हुआ', 'सूखता हुआ तालाब' (डॉ. रामदरश मिश्र); 'अलग अलग वैतरणी' (डॉ. शिवप्रसाद सिंह); 'आधा गांव' (डॉ. राही मासूम रज़ा); 'राग दरबारी' (डॉ. श्रीलाल शुक्ल); 'प्रश्न और मरीचिका', 'सबहिं नचावत राम गोसाई' (भगवती-चरण वर्मा); 'अमृत और विष', 'नाच्यौ बहुत गोपाल' (अमृतलाल नागर); 'वह पथ बंधु था' (नरेश मेहता); 'बैसाखियों वाली इमारत', 'अठारह सूरज के पौधे' (रमेश बक्षी); 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'मित्रो मरजानी' (कृष्णा सोबती); 'पचपन खंभे लाल दीवारें', 'रूकोगी नहीं राधिका?' (उषा प्रियंवदा); 'धरती धन न अपना' (जगदीशचन्द्र); 'नदी फिर बह चली' (हिमांशु श्रीवास्तव); 'डाक बँगला' (कमलेश्वर); 'अनदेखे अंजान पुल' (राजेन्द्र यादव); 'काला जल' (शानी); 'मुर्दाघर' (जगदम्बाप्रसाद दीक्षित); 'एक चूहे की मौत' (बदीउज्जमां); 'वे दिन', 'लाल टीन की छत' (निर्मल वर्मा) आदि की गणना सहजतया की जा सकती है।[68]

पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि 'साठोत्तरी' साहित्य का 'इत्यात्मक बिंदु' अब निर्धारित हो चुका है; अतः सन् 1985 के बाद के उपन्यासों को अब 'समकालीन' उपन्यास की संज्ञा दी जाती है। परन्तु जो बात पहले साठोत्तरी के संदर्भ में कही गई है, वह बात समकालीन उपन्यासों पर भी लागू होगी। अर्थात् केवल उन उपन्यासों को समकालीन उपन्यास कहा जायेगा जिनमें समकालीन चेतना व मानसिकता होगी। ऐसे उपन्यासों में समकालीन (कनटेम्पोररी) सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक, आर्थिक, वैश्विक चेतना उपलब्ध होगी। विश्व-ग्राम (ग्लोबल विलेज) की परिकल्पना, बहुराष्ट्रीय प्रतिष्ठानों की वृद्धि, उनका जन-जीवन पर प्रभाव, जल-जमीन-जंगल के प्रश्न, विविध-स्तरीय एवं विविध-रूपीय आतंकवाद, किसानों की आत्महत्याएं, नारी-विमर्श और दलित विमर्श के मुद्दे तथा इधर की राजनीतिक गति विधियां और उसके प्रभाव जैसे मुद्दे इन उपन्यासों में हमें उपलब्ध हो सकते हैं।

प्रमुख समकालीन उपन्यासों में 'महाभोज' (मन्नू भंडारी); 'बेघर', 'नरक-दर-नरक' (ममता कालिया); 'उसके हिस्से की धूप', 'चित्तकोबरा' (मृदुला गर्ग); 'ढहती दीवारें' (मीना दास); 'पतझड़ की

आवाजें' (निरूपमा सेवती); 'नावें' (शशिप्रभा शास्त्री); 'रात का रिपोर्टर' (निर्मल वर्मा); 'शहर में कर्फ्यू' (विभूतिनारायण राय); 'मुझे चाँद चाहिए' (सुरेन्द्र वर्मा); 'इदन्नमम', 'अल्मा कबूतरी' (मैत्रयी पुष्पा); 'धपेल' (श्याम विहारी); 'आखिरी कलाम' (दूधनाथ सिंह); 'सलाम आखिरी' (मधु कांकरिया); 'सात आसमान' (असगर वज़ाहत); 'शाल्मली', 'ठीकरे की मंगनी' (नासिरा शर्मा); 'छिन्नमस्ता', 'पीली कोठी' (प्रभा खेतान); 'काशी का अस्सी' (काशीनाथ सिंह); 'आग पानी आकाश' (रामधारीसिंह दिवाकर); 'पिछले पन्ने की औरतें' (सुश्री शरदसिंह); 'नरवानर' (शरणकुमार लिम्बाले); 'सावधान! नीचे आग है' तथा 'जंगल जहां शरू होता है' (संजीव); 'अपनी सलीबें' (नमिता सिंह); 'जिबह', 'शहर चूप है' (मुशर्रफ़ आलम जौकी); 'मीरा याज्ञिक की डायरी' (बिन्दु भट्ट) प्रभृति की परिगणना की जा सकती है।[69]

हमारे शोध-प्रबंध का सीधा सम्बन्ध 'पौराणिक उपन्यासों' से है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में हमने उपन्यास के प्रारंभ से लेकर अभी तक की औपन्यासिक प्रवृत्तियों पर विचार किया है। प्रेमचन्दोत्तरकाल की विभिन्न औपन्यासिक प्रवृत्तियों में एक औपन्यासिक प्रवृत्ति के रूप में हमने 'पौराणिक' उपन्यास का उल्लेख किया है। जिस प्रकार वास्तविक सामाजिक उपन्यासों का सूत्रपात प्रेमचंद जी द्वारा हुआ है; वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यासों का सूत्रपात वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा हुआ है और वास्तविक आंचलिक उपन्यासों का सूत्रपात फणीश्वरनाथ रेणु से हुआ है; ठीक उसी प्रकार वास्तविक पौराणिक उपन्यासों का सूत्रपात डॉ. नरेन्द्र कोहली द्वारा माना जा सकता है। उनसे पहले कुछ छिटपुट पौराणिक उपन्यास मिलते है, परंतु उन्होंने जिस तरह रामायण और महाभारत को लेकर उपन्यास-माला की सृष्टि की इसके कारण हम ऐसा कथन करने का साहस जुटा पाए हैं।

परवर्ती पृष्ठों में पौराणिक उपन्यासों पर विस्तृत ब्यौरेवार तथा उसके विविध पक्षों पर चर्चा करने का हमारा उपक्रम है, अतः यहां केवल एक औपन्यासिक प्रवृत्ति के रूप में पौराणिक उपन्यास के यथेष्ट स्थान को निरूपित करने का हमारा लक्ष्य है। पौराणिक उपन्यास की विभावना तथा परिभाषा पर परवर्ती अध्याय में विस्तृत

विश्लेषण होगा अतः यहां केवल इतना कहना पर्याप्त रहेगा कि जिस प्रकार ऐतिहासिक वृतान्त पर आधारित उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास कहते हैं, ठीक उसी प्रकार पौराणिक कथावस्तु पर आधृत उपन्यास को पौराणिक उपन्यास की संज्ञा दी गई है। ऐतिहासिक उपन्यासों और पौराणिक उपन्यासों में उतना ही अंतर है, जितना इतिहास और पुराण में है। इतिहास में एक सुनिश्चित तिथिक्रम (क्रोनोलोजिकल आर्डर) रहता है, जबकि पुराणों में निश्चित तिथिक्रम का अभाव-सा रहता है। यह भी एक विदित तथ्य है कि इतिहास-लेखन की हमारे यहां परंपरा नहीं रही। हमें अच्छा लगे या बुरा लेकिन यह एक कटु सत्य है। फलतः हमारा निश्चित, व्यवस्थित वैज्ञानिक इतिहास ढाई-तीन हजार सालों से पीछे नहीं जाता। पुरातत्वविद (आर्कियोलोजिस्ट) प्राचीन इतिहास के अनुसंधान में लगे हुए हैं और यह बहुत संभव है कि आने वाले कुछ सालों में कृष्ण और द्वारिका विषयक कुछ तथ्य प्रकाशित हों और तब शायद कृष्ण का समय पौराणिक न रहकर ऐतिहासिक हो जाए। किन्तु फिलहाल तो उसे पौराणिक ही करार दिया जायेगा।

अतः मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि हमारे ज्ञात इतिहास से पूर्व की जो घटनाएं महाकाव्यों, स्मृतियों, वेदों, उपनिषदों और पुराणों में उल्लिखित है उनको हम पौराणिक के अंतर्गत रख सकते हैं। अतः इनमें वर्णित वृतान्तों पर जो उपन्यास होंगे उनको हम पौराणिक उपन्यास कह सकते हैं। परन्तु ध्यान रहे पुराण कथाओं और पौराणिक उपन्यासों में एक व्यावर्तक रेखा रहेगी। पौराणिक कथावस्तु के रहते हुए भी उनको उपन्यास के व्यावर्तक लक्षणों पर खरा उतरना होगा। उपन्यास की यथार्थधर्मिता की रक्षा करनी होगी। उनमें बहुत-सी चमत्कारपूर्ण मिथक-कथाओं का निरसन होगा और उनकी आधुनिक वैज्ञानिक व्याख्या और अर्थघटन होंगे। ऐसे पौराणिक उपन्यासों में हम डॉ. नरेन्द्र कोहली द्वारा प्रणीत 'दीक्षा', 'अवसर', 'संघर्ष की ओर', 'युद्ध' तथा 'महासमर भाग-1 से भाग-8'; डॉ. भगवतीशरण मिश्र कृत 'प्रथम पुरुष', 'पुरुषोत्तम' तथा 'पवनपुत्र'; डॉ. भगवानसिंह कृत 'अपने अपने राम', आचार्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'अनामदास का पोथा'; आचार्य चतुरसेन शास्त्री विरचित 'वयं रक्षामः' आदि की परिगणना कर सकते हैं।

डॉ. कोहली ने रामायण और महाभारत को लेकर बृहद औपन्यासिक-माला की सृष्टि की है। उनके 'दीक्षा', 'अवसर', 'संघर्ष की और' तथा 'युद्ध' ये चार उपन्यास रामायण की कथावस्तु पर आधारित है। ठीक उसी तरह उन्होंने महाभारत को लेकर आठ उपन्यासों की रचना की है – 'बंधन', 'अधिकार', 'कर्म', 'धर्म', 'अन्तराल', 'प्रच्छन्न', 'प्रत्यक्ष' और 'निर्बन्ध'। इन उपन्यासों को 'महासमर भाग-1 से 8' नाम भी दिया गया है। इनका 'अभिज्ञान' उपन्यास कृष्ण-सुदामा के वृतान्त पर आधारित है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री द्वारा प्रणीत 'वयं रक्षामः' रावण को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। 'अपने अपने राम' में भी रामकथा को आधुनिक मानवीय परिप्रेक्ष्य में रखने का कलात्मक प्रयास हुआ है। डॉ. भगवतीशरण मिश्र के प्रथम दो उपन्यास जहां श्रीमद् भागवत तथा महाभारत पर आधारित है, वहां उनका तृतीय उपन्यास 'पवनपुत्र' रामायण की कथावस्तु पर आधारित है।

उपर्युक्त समाकलित औपन्यासिक प्रवृत्तियों में पौराणिक उपन्यास का अपना एक विशिष्ट स्थान है। यह इस अर्थ में कि जिस प्रकार अन्य औपन्यासिक प्रवृत्तियां औपन्यासिक यथार्थ के विभिन्न आयामों को स्पर्श करती हैं; ठीक उसी प्रकार पौराणिक उपन्यास भी पौराणिक यथार्थ को एक आधुनिक दृष्टिकोण के साथ स्पष्ट करता है। मोटे तौर पर हम देखते हैं कि पुराण कथाओं में काल्पनिकता, वाययीता, चमत्कारवादिता और मिथक कथाओं की भरमार होती है जिनके कारण यथार्थता, स्वाभाविकता, साहजिकता और संभावितता संदिग्ध होती है। पौराणिक उपन्यास इन अयथार्थ तत्वों के घटाटोप या कोहरे को हटाकर उन्हें तर्कसंगत, बुद्धिगम्य रूप देता है। जिस प्रकार वास्तविक ऐतिहासिक उपन्यासों में लेखक का ध्यान अतीत के साथ-साथ अपने वर्तमान की समस्याओं पर भी रहता है, ठीक उसी प्रकार पौराणिक उपन्यासों में भी लेखक का ध्यान वर्तमान समस्याओं पर भी रहता है और लेखक की हर संभव कोशिश यह रहती है कि वह वर्तमान से उसे अनुस्यूत करें। कई बार तो ऐसा भी

होता है कि कोई साम्प्रतिक घटना लेखक को पौराणिकता के आईने में देखने के लिए विवश करती है।

डॉ. कोहली को रामकथा पर आधृत 'दीक्षा' उपन्यास लिखने का विचार जो स्फुरित हुआ उसके पीछे बांगलादेश के निर्माण से जुड़ी घटनाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही हैं। इस संदर्भ में स्वयं डॉ. नरेन्द्र कोहली लिखते हैं –"बांगलादेश के युद्ध ने अन्य लोगों के समान मुझ पर भी अनेक छोटे-बड़े प्रभाव छोड़े, किन्तु दो तथ्य की प्रमुखता और तीव्रता से मेरे मन पर अंकित हुए – एक तो राक्षसी क्रूरताएं और अत्याचार और दूसरे बुद्धिजीवियों का अत्याचार के विरोध और सत्य के पक्ष में उनका बलिदान। मेरे मन में इन तथ्यों की पृष्ठभूमि में रामकथा की घटनाओं को देखा और रामकथा की दृष्टि से बांगलादेश के युद्ध को समझने का प्रयत्न किया। सामान्यतः हम प्रत्येक युद्ध को महाभारत के साथ जोड़ने के अभ्यस्त है, किन्तु बांगलादेश का युद्ध रामायण के राम-रावण युद्ध के अधिक निकट है। बांगलादेश में अपने देश का हित सोचने-वाले बुद्धिजीवी अमरीका की आंखों में कांटे के समान खटक रहे थे। क्यों? क्योंकि पाकिस्तानी अत्याचारी अमरीका के भाई-बंधु थे और बांगलादेश के बुद्धिजीवी उनके मार्ग की बाधा थे। मेरे मन में स्पष्ट होने लगा कि वनवासी ऋषि किस प्रकार लंका में बैठे रावण के मार्ग की बाधा थे। यह पहला युद्ध था जिसमें भारत की सेना किसी अन्य देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ने गई थी और विजय प्राप्त कर शासन का अधिकार उस देश की जनता के हाथों में दे आई थी – जैसे राम किष्किंधा को सुग्रीव के हाथों और लंका को विभीषण के हाथों में सौंप आये थे। ... विश्वामित्र जहां कहीं होगा, वह मानव का हित सोचेगा, अतः अनायास या सायास, पूंजी के बल पर शोषण करने वाले, सोने की लंका के स्वामी का शत्रु हो जाएगा। रावण विश्वामित्र पर प्रहार करेगा ही; और राम को 'दीक्षित' करना ही होगा।"[70]

इस प्रकार पौराणिक उपन्यास पुराणकथा को आधुनिक संदर्भ में, आधुनिक अर्थघटन के साथ, नवीन मनोवैज्ञानिक व्याख्याओं के साथ प्रस्तुत करता है। वहां पर किसी पुराणकथा की भांति कोई अहल्या पत्थर की शीला में परिवर्तित नहीं हो जाती, और

नहीं ही राम की चरण-रज के स्पर्श से पुनः शीला से अहल्या में परिवर्तित होती है। पौराणिक उपन्यासकार इस मिथक की आधुनिक व्याख्या इस प्रकार करेगा कि इन्द्र द्वारा धोखे से बलात्कृत अहल्या अपमान तथा सामाजिक-पारिवारिक बहिष्कार से जड़ी-भूत हो जाती है, और राम-लक्ष्मण के मानवतापूर्ण व्यवहार, सहानुभूति और संवेदना से उसकी चेतना पुनः लौट आती है और वह साधारण (नोर्मल) हो जाती है और ठीक यही डॉ. नरेन्द्र कोहली ने 'दीक्षा' उपन्यास में किया है।

इस प्रकार जैसे देश के इतिहास को जानने के लिए ऐतिहासिक उपन्यासों की दरकार रहती है, ठीक वैसे ही हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को समझने के लिए पौराणिक उपन्यासों की आवश्यकता रहती है। यहां किसी को प्रश्न हो सकता है कि देश के इतिहास को जानने के लिए हम मूल इतिहास ग्रन्थ पढ़ेंगे, उपन्यास क्यों पढ़ेंगे? बात धूम-फिरकर वहीं आ जाती है कि शास्त्र और साहित्य दोनों का लक्ष्य सत्य की स्थापना है, परंतु जहां शास्त्र केवल सत्य, कोरा सत्य, ठोस सत्य को लेकर चलता है; वहां साहित्य 'सत्यं ब्रुयात् प्रियं ब्रुयात्' को लेकर चलता है। रसयुक्त सत्य साहित्य का काम्य है। अतः जैसे सामाजिक उपन्यासों से समाज की गतिविधियों को समझा जाता है, वैसे ही ऐतिहासिक एवं पौराणिक उपन्यासों से इतिहास तथा प्राचीन संस्कृति को समझा जा सकता है। अतः अन्य उपन्यास-रूपों की भांति पौराणिक उपन्यास भी विशिष्ट रस-रूचि वाले पाठकों के लिए आवश्यक हो जाते हैं। पौराणिक उपन्यास हमें इस बात की प्रतीति कराते हैं कि मनुष्य की मूलभूत वृत्तियों (बेजिक इनस्टिंक्ट्स) में कोई खास बदलाव नहीं आया है। हर युग में अच्छे-बुरे लोग होते हैं। इस अनंत-विराट काल को उसके अखंड रूप में देखने की दृष्टि पौराणिक उपन्यास देता है।

निष्कर्ष :

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं –

(1) उपन्यास इस नये युग की नयी विधा है। भारतीय भाषाओं में उसका आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द में होता है। अँग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव-स्वरूप वह भारतीय भाषाओं में आया है।

(2) हिन्दी का प्रथम उपन्यास 'भाग्यवती' सन् 1878 में प्रकाशित हुआ था। कुछ विद्वान लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरू' को भी हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं, किन्तु उसका प्रकाशन सन् 1882 में हुआ था। अतः हिन्दी उपन्यास की आयु कुल एक सौ तीस वर्ष के करीब होने आई है।

(3) अॅग्रेज़ी में उपन्यास के लिए 'नोवेल' शब्द प्रचलित है, फलतः अनेक भारतीय भाषाओं में इस साहित्य रूप के लिए उसी से मिलते-जुलते शब्द उपलब्ध होते हैं, जैसे नवलकथा (गुजराती, मराठी), नावल (पंजाबी), 'नाविल' (उर्दू), नावलु (सिंधी), नवल (तेलुगू), नावल (तमिल), नोवल (मलयालम) आदि-आदि। हिन्दी, बँगला, असमिया, उड़िया आदि भाषाओं में उसे उपन्यास भी कहा जाता है।

(4) 'उपन्यास' साहित्य-प्रकार नया है, किन्तु 'उपन्यास' शब्द भारतीय नाट्यशास्त्र में हमें उपलब्ध होता है। वहां यह शब्द प्रतिमुख संधि के एक उपभेद के रूप में आया है।

(5) उपन्यास के व्यावर्तक लक्षणों में उसका गद्य-विधा में होना, उसकी यथार्थधर्मिता, यथार्थ परिवेश पर जोर, सहज स्वाभाविक चरित्र-सृष्टि, यथार्थ भाषाशैली आदि की गणना कर सकते हैं।

(6) हिन्दी उपन्यास के विकास में प्रेमचंद का स्थान मेरूदण्ड के समान है, फलतः हिन्दी उपन्यास के विकास को लक्षित

करते समय उनके नाम को केन्द्र में रखा गया है, यथा पूर्व-प्रेचंदकाल (सन् 1878-1918); प्रेमचंदकाल (1918-1936) और प्रेमचन्दोत्तर काल (1936-अद्यावधि)।

(7) प्रेमचन्दपूर्व काल की औपन्यासिक प्रवृत्तियां इस प्रकार हैं : 1. सामाजिक उपन्यास, 2. ऐतिहासिक उपन्यास, 3. तिलस्मी उपन्यास, 4. जासूसी उपन्यास और 5. अनूदित उपन्यास।

(8) उपर्युक्त औपन्यासिक प्रवृत्तियों में से तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों का उल्लेख परवर्ती कालों में नहीं हुआ है क्योंकि उनको साहित्यिक और स्तरीय उपन्यास नहीं माना गया है। अनूदित उपन्यास साहित्यिक और स्तरीय तो होते हैं, किन्तु वे अपनी मूल भाषा की धरोहर समझे जाते हैं, फलतः परवर्ती कालों में इस औपन्यासिक प्रवृत्ति का भी उल्लेख नहीं मिलता है।

(9) प्रेमचंदयुग की औपन्यासिक प्रवृत्तियों में मुख्यतया दो हैं -- 1. सामाजिक उपन्यास और 2. ऐतिहासिक उपन्यास। यद्यपि मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास तथा राजनीतिक उपन्यास का उत्स हमें प्रेमचंदयुग में ही मिल जाता है किन्तु उनका यथेष्ट विकास प्रेमचन्दोत्तरकाल में हुआ है।

(10) प्रेमचन्दोत्तर औपन्यासिक प्रवृत्तियों में निम्नलिखित को परिगणित कर सकते हैं -- 1. सामाजिक उपन्यास, 2. ऐतिहासिक उपन्यास, 3. मनोवैज्ञानिक उपन्यास, 4. समाजवादी उपन्यास, 5. राजनीतिक उपन्यास, 6. आंचलिक उपन्यास, 7. पौराणिक उपन्यास, 8. साठोत्तरी उपन्यास और 9. समकालीन उपन्यास। इनमें से अंतिम दो औपन्यासिक प्रवृत्तियों के साथ काल-विषयक विभावना जुड़ी हुई है। सन् 1960 से 1985 तक के उपन्यासों को साठोत्तरी और सन् 1985 से अद्यावधि तक के उपन्यासों को समकालीन उपन्यास की संज्ञा दी गई है।

(11) साठोत्तरी और समकालीन उपन्यास के साथ काल-विषयक विभावना तो जुड़ी हुई है, परन्तु कोई भी उपन्यास साठोत्तरी या समकालीन तभी माना जायेगा जब उसमें साठोत्तरी या समकालीन चेतना होगी।

(12) हमारा प्रतिपाद्य विषय पौराणिक उपन्यासों के संदर्भ में है और यह पौराणिक उपन्यासों की प्रवृत्ति हमें प्रेमचन्दोत्तरयुग में उपलब्ध होती है। पौराणिक उपन्यास हमें प्रेमचन्दोत्तरकाल (1936-1960), साठोत्तरकाल (1960-1985) और समकालीन उपन्यासकाल (1985-अद्यावधि) में उपलब्ध हो रहे हैं।

(13) पौराणिक उपन्यास पौराणिक कथावृत्तों पर आधारित होते हैं, परन्तु उनको भी उपन्यास के जो व्यावर्तक अभिलक्षण निश्चित हुए हैं उन पर खरा उतरना होगा। बल्कि यथार्थ परिवेश की सृष्टि के लिए उन्हें अतिरिक्त अनुसंधान की आवश्यकता रहेगी। अतः उनके लेखकों को चाहिए कि वे इतिहास, पुरातत्व, नृवंशशास्त्र तथा पौराणिक साहित्य का गहन अध्ययन करें।

(14) पौराणिक उपन्यास पौराणिक कथावृत्तों पर आधृत होते हैं, फिर भी उनमें अपनी समय-चेतना किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है। वस्तुतः उनमें वर्तमान या समसामयिक समस्याओं का आख्यान पौराणिक संदर्भों के माध्यम से होता है।

(15) प्रमुख पौराणिक उपन्यासकारों में हम डॉ. नरेन्द्र कोहली, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. भगवतीशरण मिश्र, डॉ. भगवानसिंह आदि की परिगणना कर सकते हैं।

संदर्भानुक्रम :

1. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 20 ।
2. भारतीय भाषाकोश : केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय : सामान्य शब्दावली : पृ. 40 ।
3. द्रष्टव्य : वही : पृ. 40 ।
4. समीक्षायण : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 113 ।
5. द टेकनिक आफ द मोडर्न इंग्लिश नोवेल : डॉ. शिशिर चट्टोपाध्याय : पृ. 18 ।
6. समीक्षायण : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 123 ।
7. वही : पृ. 122 ।
8. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 26 ।
9. द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 390 ।
10. न्यू इंग्लिश डिक्शनरी : सी. नोवेल ।
11. नोवेल एण्ड द पिपल : राल्फ फोक्स : पृ. 20 ।
12. द राइटर्स एट वर्क : आर्टिकल : वोट इज नोवेल एण्ड इज इट गुड फोर : ईरा वालफर्ट : पृ. 8 ।
13. 'क्षितिज' नलकथा विशेषांक / गुजराती पत्रिका : संपादक : सुरेश जोशी ।
14. रेणु की श्रेष्ठ कहानियां : भूमिका : राजेन्द्र यादव : पृ. 6 ।
15. वयं रक्षामः : आचार्य चतुरसेन शास्त्री : पृ. 11 ।
16. न्यू इंग्लिश डिक्शनरी : सी. नोवेल ।
17. नोवेल एण्ड द पिपल : पृ. 20 ।
18. प्रो. एच. जे. मूलर : समीक्षायण : पृ. 115 ।
19. वही : पृ. 115 ।
20. उक्त भाष्य इसी उपन्यास के शारदा प्रकाशन भागलपुर द्वारा प्रकाशित दूसरे संस्करण में देखा जा सकता है।
21. वयं रक्षामः : भूमिका : पूर्व निवेदन से : पृ. 8 - 9 ।

22. साहित्यालोचन : डॉ. श्यामसुंदरदास : पृ. 135 ।
23. कुछ विचार : प्रेमचंद : पृ. 46 ।
24. संदेश (हिन्दी पत्रिका) : उपन्यास विषयक लेख : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : मार्च 1940 ।
25. आधुनिक साहित्य : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : पृ. 173 ।
26. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ. एस. एन. गणेशन : पृ. 29 ।
27. हिन्दी साहित्यकोश भाग – 1 : सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : पृ. 153।
28. राइटर्स एट वर्क : फर्स्ट सिरीज़ : 1958 : पृ. 60 ।
29. द्रष्टव्य : दीक्षा : डॉ. नरेन्द्र कोहली : अभ्युदय भाग – 1 : पृ. 149 ।
30. द्रष्टव्य : अभ्युदय भाग – 2 : पृ. 499 ।
31. द्रष्टव्य : वे दिन : निर्मल वर्मा : पृ. 209 ।
32. वयं रक्षाम : पृ. 16 ।
33. वे दिन : पृ. 211 ।
34. धरती धन न अपना : जगदीशचन्द्र : पृ. 27 ।
35. समीक्षायण : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 121 ।
36. द्रष्टव्य : वही : पृ. 121 ।
37. गर्म राख : उपेन्द्रनाथ अश्क : प्रथम फ्लेप से ।
38. द्रष्टव्य : संदर्भानुक्रम – 23 ।
39. द्रष्टव्य : युगनिर्माता प्रेमचंद : डॉ. पारुकान्त देसाई : भूमिका से।
40. सी. आस्पेक्ट्स आफ नोवेल : ई. एम. फारर्स्टर ।
41. सी. एन एन्ट्रडक्शन टु द स्टडी आफ लिटरेचर : हडसन : पृ. 144 ।
42. अध्ययन के आईने में : डॉ. मनीषा ठक्कर : पृ. 135 ।
43. वही : पृ. 135 ।
44. बंधन : डॉ. नरेन्द्र कोहली : पृ. 232 - 254 ।
45. अवसर : डॉ. नरेन्द्र कोहली : पृ. 234 । (अभ्यदय-1)
46. वही : पृ. 235 – 236 ।
47. वयं रक्षामः आचार्य चतुरसेन शास्त्री : भूमिका : पृ. 9 ।

48. मुझे चाँद चाहिए : सुरेन्द्र वर्मा : पृ. 120 ।
49. मुख सरोवर के हंस : शैलेश मटियानी : पृ. 3 – 4 ।
50. बर्फ गिर चुकने के बाद : मटियानी : पृ. 73 ।
51. वही: आरंभ में से ।
52. किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई : मटियानी : पृ. 'आमुख' से : पृ. 3–5 ।
53. मुर्दाघर : जगदम्बाप्रसाद दीक्षित : पृ. 29 ।
54. वयं रक्षामः : पृ. 211 ।
55. दीक्षा : अभ्युदय-1 : पृ. 22 ।
56. बंधन : पृ. 228
57. वही : पृ. 228 – 229 ।
58. अपने अपने राम : डॉ. भगवानसिंह : पृ. 312 ।
59. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ. एस. एन. गणेशन : पृ. 58 ।
60. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 96 ।
61. विस्तार के लिए द्रष्टव्य : 'हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास-परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 95 – 100 ।
62. वही : पृ. 150 ।
63. वही : पृ. 109 – 138 ।
64. द्रष्टव्य : लोकप्रिय कवि माखनलाल चतुर्वेदी ।
65. नयी कविता के प्रतिनिधि कवि : सं. डॉ. राजपाल शर्मा : पृ. 165 ।
66. संसद से सड़क तक : धूमिल ।
67. चिंतनिका : डॉ. पारूपाकान्त देसाई : पृ. 43 ।
68. द्रष्टव्य : साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डॉ. देसाई : अनुक्रम से ।
69. द्रष्टव्य : हंस – 2004-5-6 ।
70. नरेन्द्र कोहली ने कहा : पृ. 37 – 38 ।

* * *